

चिन्तन-सृजन

त्रैमासिक

वर्ष 10 अंक 3

जनवरी-मार्च 2013

सम्पादकीय परामर्शदात्री समिति

लोकेश चन्द्र

यशदेव शल्य

जे.एन.राय

रमेशचन्द्र शाह

सम्पादक

बी. बी. कुमार

आस्था भारती

दिल्ली

वार्षिक मूल्य :

व्यक्तियों के लिए	60.00 रुपये
संस्थाओं और पुस्तकालयों के लिए	150.00 रुपये
विदेशों में	\$ 15

एक प्रति का मूल्य

व्यक्तियों के लिए	20.00 रुपये
संस्थाओं के लिए	40.00 रुपये
विदेशों में	\$ 4

विज्ञापन दरें :

बाहरी कवर	10,000.00 रुपये
अन्दर कवर	7,500.00 रुपये
अन्दर पूरा पृष्ठ	5,000.00 रुपये
अन्दर का आधा पृष्ठ	3000.00 रुपये

प्रकाशन के लिए भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसंधान परिषद द्वारा आंशिक आर्थिक सहायता प्राप्त

आस्था भारती

रजिस्टर्ड कार्यालय :

27/201 ईस्ट एंड अपार्टमेंट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110 096

कार्य-संचालन कार्यालय :

23/203 ईस्ट एंड अपार्टमेंट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110 096

से आस्था भारती के लिए राजेश भार्गव, कार्यकारी सचिव द्वारा प्रकाशित तथा विकास कम्प्यूटर एण्ड प्रिण्टर्स, 1/10753, सुभाष पार्क, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32 द्वारा मुद्रित। फोन : 011-22712454

ई.मेल : asthabharati1@gmail.com

वेब साइट : asthabharati.org

चिन्तन-सृजन में प्रकाशित सामग्री में दृष्टि, विचार और अभिमत लेखकों के हैं। सम्पादक की सहमति अनिवार्य नहीं है।

विषय-क्रम

<i>सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य</i>	5
1. मंडन मिश्र और आदिशंकराचार्य संवाद : समकालीन समाज के लिए कुछ नैतिक निष्कर्ष <i>अशोक वोहरा</i>	9
2. ज्ञान केंद्र के लिए प्रस्तावना <i>पवन कुमार गुप्त</i>	17
3. आचार्य वल्लभ और भक्ति <i>त्रिभुवननाथ शुक्ल</i>	25
4. सन्त कबीर और गुरु नानक : अन्तरसम्बन्ध और अन्तरसंवाद <i>महीप सिंह</i>	34
5. शिव-शक्ति, राम-हनुमान <i>श्रीराम परिहार</i>	42
6. सामंजस्य और सौमनस्य की साधना विफल क्यों? <i>शत्रुघ्न प्रसाद</i>	48
7. बृहत्तर भारत के अन्वेषक आचार्य रघुवीर <i>भुवनेश्वर प्रसाद गुरुमैता</i>	56
8. ललित निबन्ध नेता <i>शंकर पुणताम्बेकर</i>	60

9.	अल्पसंख्यक आरक्षण की संभावनाएँ शंकर शरण	67
10.	हिन्दी शब्द परम्परा शर्वेश पाण्डेय	73
11.	सूचना प्रौद्योगिकी एवं हिन्दी का वैश्विक परिदृश्य भाऊसाहेब नवनाथ नवले	89
12.	हिन्दी काव्यों में राष्ट्रीयता क्रिष्णाभाई डी. पटेल	102
13.	पुस्तक-समीक्षा कथा सनातन : नये समय का नया उपनिषद् राधावल्लभ त्रिपाठी	109
14.	पुस्तक-समीक्षा शब्द तो कुली हैं रमेश दवे	114
15.	पुस्तक-समीक्षा अप्रस्तुत-योजना : स्वरूप और विश्लेषण वरुण कुमार तिवारी	117
16.	पुस्तक-समीक्षा उन्मन डॉ. देवेन्द्र आर्य	122
	प्राप्ति-स्वीकार	126

सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य

आवश्यकता है जड़ता तोड़ने के बहुमुखी प्रयास की

पिछले दिनों इस देश में कुछ ऐसी घटनाएँ घटीं, जो आश्चर्य नहीं करतीं। सामूहिक बलात्कार के बाद एक लड़की तथा उसके साथी को चलती बस से नीचे ढकेल दिया गया। सप्ताह भर के जीवन-संघर्ष के बाद लड़की ने अस्पताल में दम तोड़ दिया। इस बर्बर घटना के पूर्व उन्हीं अपराधियों ने एक बस यात्री से आठ हजार रुपये लूटकर उसे भी चलती गाड़ी से नीचे फेंक दिया था। इस घटना के बाद सारे देश में तूफानी आक्रोश की लहर उठी; संसद एवं उसके बाहर जमकर बहस चली। दिल्ली, मुम्बई तथा अन्य स्थानों पर प्रदर्शन हुए। विरोध-प्रदर्शन में नागरिक समाज, विधायिकासांसदों, विधायकों, पत्रकारों, अधिवक्ताओं, लेखकों, स्वयंसेवी तथा मानवाधिकार संगठनों, आदि सबकी सहभागिता रही। इसके अच्छे परिणाम भी सामने आये। बलात्कार की रोक-थाम की दिशा में कुछ सार्थक पहल भी दिखी। यहाँ आक्रोश-प्रदर्शन एवं आन्दोलनों के दौरान हमारे देश एवं समाज के कुछ दुर्बल पक्ष भी खुलकर सामने आये। यहाँ इस बात का उल्लेख आवश्यक है कि ऐसा पहली बार नहीं हो रहा है। बलात्कार की खबरें लगातार समाचार-पत्रों में आती रही हैं, जो समाज में क्षोभ, क्रोध, ग्लानि तथा चिन्ता फैलाती रही हैं। संसद, दूसरे मंचों, समाचार-माध्यमों में क्षोभ व्यक्त किए जाते रहे हैं, बलात्कारी को फाँसी तक देने की बात होती है; यौनाचार को प्रोत्साहित करनेवाली फिल्मों, पुस्तकों, पत्र-पत्रिकाओं, विज्ञापनों, पोस्टरों, आदि पर रोक की बात उठती है। पर यथा-स्थिति बनी रहती है, जड़ता टूटती नहीं।

उल्लिखित घटना कुछ अपराधियों द्वारा एक महिला पर किये गये आपराधिक आक्रमण की थी, जिसे कई रैलियों में, पुरुषों एवं महिलाओं के बीच के टकराव के रूप के प्रस्तुत किया गया मानो इस घृणित कार्य में समस्त पुरुषवर्ग की सहभागिता रही हो, जैसे कि महिला का शील-हरण करने वाले महिला-वर्ग के विरुद्ध पुरुष वर्ग के संघर्ष के योद्धा हों; और वैसे ही वह स्त्री जिसने उसी दिन अपने पति के शरीर के ग्यारह टुकड़े कर के फेंक दिया था, वह स्त्रीवर्ग की योद्धा हो। माहौल ऐसा था जिसमें समस्या-निदान के लिए सघन विमर्श की संभावना नहीं बनती थी। स्पष्टतः समस्या के निदान के लिए चौतरफा पहल आवश्यक है। शील-हरण या अन्य किसी अपराध की रोक-थाम में ढिलाई के लिए प्रशासन-तंत्र से कड़ाई से निपटा जाना चाहिए। फिर, जैसा कि ऊपर कहा गया है, शील-हरण की यह पहली घटना नहीं थी। दिल्ली में ही पिछले दस वर्षों में जनसंख्या दो-गुनी बढ़ी है तो ऐसे अपराध दस-गुने। खैर, देर से ही सही, इस अपराध के बाद का जनाक्रोश अच्छे परिणाम लायेगा, इसकी हम आशा

करते हैं। आवश्यक है किसी भी तरह के अपराधों जिसमें शील-हरण भी सम्मिलित है की रोकथाम एवं अन्य राष्ट्रीय समस्याओं के निदान के प्रयास किए जायें। अपराधों की रोकथाम के लिए प्रशासन तथा पुलिस तंत्र एवं न्याय व्यवस्था को न केवल चुस्त-दुरुस्त किया जाना चाहिए, बल्कि कानूनों में संशोधन एवं नीतिगत बदलाव भी आवश्यक हैं। इसके लिए व्यवस्था में व्याप्त जड़ता को तोड़ना आवश्यक है।

कानून और व्यवस्था से जुड़ी एक समस्या, जिससे यह देश निजात नहीं पा रहा है, वह है अपराधी का अपने बचाव संबंधी कानूनी प्रावधानों का अपेक्षाकृत अधिक ज्ञान होना। दिल्ली के सामूहिक दुष्कर्म का एक अपराधी, बस का कण्डक्टर, यह जानता था कि वह 18 वर्ष से कम उम्र का किशोर है और कानून ही उसे इस जघन्य अपराध से बचाएगा। अपराध छिपाने के लिए पीड़िता के गुप्तांग में छड़ घुसेड़ कर आँत आदि निकालने की सलाह भी उसी ने दी थी। आज जघन्य अपराधों में किशोरों की संलिप्तता बढ़ी है; अपराधी गिरोह धड़ल्ले से किशोरों को अपने साथ जोड़कर जघन्य अपराध करा रहे हैं। बिडम्बना है कि आज अपराधी आगे आगे चल रहे हैं, पुलिस तंत्र एवं प्रशासन उनसे काफी पीछे और कानून बनानेवाले ऊँघ रहे हैं। हमारे देश में आज भी डेढ़ सौ वर्ष पुराने अंग्रेजी राज के कानून चल रहे हैं।

कानून-व्यवस्था बनाए रखना राज्य सरकारों के अधिकार-क्षेत्र में आता है। ऐसे में कानून-व्यवस्था बनाए रखने के नाम पर कई राज्य सरकारें नागरिकों के संविधान-प्रदत्त मौलिक अधिकारों के हनन से नहीं हिचकिचातीं। कमल हासन की फिल्म 'विश्वरूपम' पर प्रतिबन्ध एवं रुश्दी के कोलकाता नहीं आने देने को इसी परिप्रेक्ष्य में देखा-समझा जाना चाहिए। वैसे इस देश में असहिष्णुता लगातार बढ़ी है जो हमारे लोकतंत्र के लिए शुभ नहीं है। विमर्श का क्षेत्र सिकुड़ा है, कारक चाहे वैचारिक असहिष्णुता हो, क्षुद्र स्वार्थों की राजनीति हो, अज्ञान हो या अन्य कारण। ध्यातव्य है कि अपराध एवं सामाजिक विचलन को केवल कानून से रोकना संभव नहीं; उसके लिए स्वस्थ सामाजिक वातावरण एवं मूल्यों की पुनर्स्थापना भी आवश्यक है। स्त्री, जाति, आदि से संबंधित समस्याएँ सामाजिक हैं, उनका केवल प्रशासनिक निदान नहीं हो सकता। इनका मुख्य निराकरण शैक्षिक, सामाजिक आन्दोलनों एवं कार्यों द्वारा ही संभव है। उदाहरण के लिए नारीगत स्वस्थ सोच की स्थापना परिवार एवं स्कूल में होना चाहिए। कानूनी एवं प्रशासनिक कार्य केवल भय द्वारा रोकथाम ही कर सकते हैं; वे deterrent ही हो सकते हैं, पूर्णतः रोक नहीं सकते हैं। ऐसा नहीं कि यह आवश्यक नहीं। यह तो आवश्यक है ही। प्रशासनिक एवं न्याय-प्रक्रिया की मुश्तैदी तो आवश्यक है ही, जैसा कि ऊपर कहा गया है। लेकिन इसके साथ ही अन्य उपाय भी आवश्यक हैं। इसके लिए समाज संगठनको स्थायित्व प्रदान करनेवाली मूल्य व्यवस्था की आवश्यकता तो है ही। लेकिन परिस्थिति ऐसी बनती जा रही है, ऐसी प्रवृत्ति विकसित हो रही है,

जो उस मूल्य-व्यवस्था को तेजी से उखाड़ फेंकना चाहती है। दुर्भाग्यवश, जैसा कि अज्ञेय ने कहा था : “लगाभग यह स्थिति हो गयी है कि अगर आप में किसी तरह का भी कोई मूल्यबोध बाकी है तो न आप आधुनिक हैं, न वैज्ञानिक हैं, न सभ्य हैं - केवल एक पुराने खूसट हैं जिसे अवज्ञापूर्वक जितनी जल्दी रास्ते से हटा दिया जाय उतना ही अच्छा।” ऐसे में मूल्यों की बात करनेवाले बौद्धिकों, धर्म-गुरुओं एवं इक्के दुक्के राजनीतिकों को मूर्खतापूर्ण आक्षेपों का सामना तो करना ही पड़ता है। वैसे इस देश में “अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता” की यह स्थिति तो बन ही पड़ी है कि एक बड़ा लेखक या विचारक क्या बोले यह भी पुलिस और अदालतें ही तय करें, जैसा आशीष नन्दी के साथ हुआ।

अज्ञेय ने बलात्कार की बढ़ती प्रवृत्ति पर चिन्ता व्यक्त करते हुए ठीक ही लिखा था: “क्या ऐसे समाज में बलात्कार की बढ़ती हुई प्रवृत्ति को रोकने का कोई उपाय है? प्रश्न का आशय यह नहीं है कि कोई उपाय नहीं है; आशय यही है कि जब तक हम मूल्यहीनता के साथ बँधे हुए हिंसा भाव को नहीं देखते, जब तक विद्रोह के विकृत चित्र का सुधार नहीं करते, तब तक क्या पुलिस, क्या सरकार या सेना या संसद कोई इलाज कर सकता है? क्या कोई भी संगठन या संस्थान, जो खुद इसी समाजव्यापी मूल्यहीनता की परिस्थिति की उपज है, बिना उस मूल्य समस्या का सामना किये हुए कोई उपाय कर सकता है? नहीं कर सकता।” यहाँ इस बात का उल्लेख आवश्यक है कि न केवल बलात्कार, बल्कि अन्य अनेक राष्ट्रीय समस्याओं की जड़ भी मूल्य हीनता में खोजी जा सकती है। भ्रष्टाचार, बढ़ती अराजकता, हिंसा, संवेदनहीनता के तार भी उसी से जा जुड़ते हैं।

अन्ततः यह कहा जा सकता है कि आज हमारा देश तथा समाज विषम समस्याओं से ग्रस्त है। लेकिन हमें निराश नहीं होना चाहिए। आवश्यक है कि हम विमर्श को ऊँचाई पर ले जायें; नागरिक समाज को जगाएँ, बौद्धिक उलझन से पार पाएँ। अपेक्षित बदलाव के लिए शिक्षा में बदलाव अत्यन्त आवश्यक है। हमें मूल्य-दृष्टियों के प्रति हीनतापूर्ण अवज्ञा-भाव, परंपरा के प्रति अज्ञानपूर्ण द्वेषभाव, खण्डित इतिहास दृष्टि, संस्कृति-बोध का अभाव, पहचान के संकट, आदि से बचने का उपाय करना होगा; स्वस्थ जीवन दृष्टि लानी होगी। विज्ञान एवं तकनीक, आधुनिकीकरण तथा पश्चिमीकरण एक दूसरे के पर्याय नहीं हैं और न अंग्रेजी शिक्षा हमारी समस्याओं का हल। फिर समस्याओं का हल समग्रता में खोजा जाना चाहिए, और उनके हल की सार्थक ईमानदार पहल। राजनीति, प्रशासन तथा बौद्धिक जगत की जड़ता तोड़ने का यही एक मात्र रास्ता है।

ब्रज बिहारी कुमार

मंडन मिश्र और आदिशंकराचार्य संवाद : समकालीन समाज के लिए कुछ नैतिक निष्कर्ष

अशोक वोहरा*

अपने इस लघु शोध-पत्र में मेरा उद्देश्य मंडन मिश्र और आदिशंकराचार्य में हुए संवाद में निहित नैतिक मूल्यों और समकालीन समाज, विशेषतः बौद्धिक समाज, के लिए उनकी प्रासंगिकता पर प्रकाश डालना है। ऐसा करने के लिए इस वृत्तान्त का मैं व्याख्यात्मक (हरमैन्यूयटिकल) वर्णन करूँगा मैं आपके समक्ष इस सुविदित कथा (नैरेटिव) को फिर से दोहराऊँगा। इस क्रम में जहाँ-जहाँ मुझे प्रतीत होता है कि इससे कोई नैतिक निष्कर्ष निकल सकता है, वहाँ-वहाँ मैं कथा को रोककर उस मूल्य की व्याख्या करूँगा।

जैसा कि सर्वविदित है, आदिशंकराचार्य अपने द्वारा प्रतिपादित अद्वैत दर्शन को सम्पूर्ण भारत में स्थापित करने के लिए अपने विरोधी मतावलम्बियों से शास्त्रार्थ, वार्तालाप, वाद-विवाद एवं विशद चर्चाएँ करते थे। माधव विद्यारण्य विरचित शंकर-दिग्विजय के अनुसार स्मृति-प्रस्थानों एवं प्रस्थानत्रयी पर अपने भाष्यों की व्यास द्वारा भूरि-भूरि प्रशंसा के बाद शंकर ने सोचा कि “मैंने भाष्यों को पूरा कर लिया है, उनकी व्याख्या कर दी है और इन भाष्यों और व्याख्याओं पर इनमें प्रस्थापित सिद्धांतों का विरोध करने वाले अपने प्रतिद्वंद्वियों को हरा दिया है। अब मुझे क्या करना है? अब मेरे करने के लिए कुछ भी शेष नहीं रहा है। अतः अब जब मेरी आयु शोलह वर्ष हो चुकी है इस शरीर का त्याग कर देना चाहिए।” उन्होंने अपने इस विचार से व्यास को अवगत कराया। किन्तु व्यास ने उन्हें समझाया कि अभी उनके करने को बहुत कुछ बचा है, क्योंकि उनके मत को न मानने वाले अनेक जाने-माने विद्वान अभी जीवित हैं। वाद-विवाद करके उन्हें हराने और अपने सिद्धांत को मनवाने का कार्य अभी शंकर के लिए बाकी है। यह सुनकर शंकर ने प्राण-त्याग के अपने संकल्प को टाल दिया और वे अपने विरोधियों से वाद-विवाद करने के लिए चल दिए।

* अशोक वोहरा, पूर्व प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष, दर्शन विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-110007।

इसी चर्चा क्रम में वे अपने समकालीन सुविख्यात एवं महान मीमांसक कुमारिल भट्ट से मिलने एवं उनसे शास्त्रार्थ करने के लिए धुर दक्षिण से प्रयागराज पहुँचे। किन्तु जब वे कुमारिल भट्ट से मिले तो कुमारिल भट्ट अपने बौद्ध गुरु को दिए गए धोखे के पश्चाताप में स्वयं को धीमी चिता पर जला रहे थे। कुमारिल द्वैतवादी थे। वे ईश्वर को नहीं मानते थे। वे कर्मकांड को ही वेदों का मुख्य प्रतिपाद्य मानते थे। फिर भी जब शंकर ने उन्हें अपने द्वारा लिखित ग्रन्थ दिखाए तो उन्हें पढ़ने के बाद कुमारिल ने कहा कि इन भाष्यों पर लगभग 800 पृष्ठों की वार्तिक लिखी जा सकती है। किन्तु उनकी वर्तमान स्थिति में ऐसा करना सम्भव नहीं है। शंकर ने उनसे अपने भाष्यों पर चर्चा करने के बारे में अपनी मंशा जताई। जब उन्हें शंकराचार्य के मन्तव्य का पता चला तो उन्होंने शंकराचार्य को अपने सबसे तीव्रबुद्धि शिष्य मीमांसक मंडन मिश्र से शास्त्रार्थ करने की सलाह दी। उन्होंने मंडन मिश्र की विदुषी पत्नी उभय भारती का परिचय भी शंकराचार्य को दिया।

प्रकरण के इस भाग से हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि अपनी किसी भी प्राक्कल्पना/प्रस्थापना को स्थापित करने के लिए, हमें अपने धुर विरोधियों के साथ उस पर निष्पक्ष चर्चा करने के लिए तैयार रहना चाहिए। किसी भी प्रस्थापना का आधार हठधर्मिता या कट्टर मताग्रह नहीं हो सकता। उसका आधार तर्क की कसौटी पर खरा उतरना और उसके धुर विरोधियों द्वारा उसका आधार खंडन न कर पाना है। अपने मत को, अपनी स्थापना को, तर्क से, अनुभव से सिद्ध किया जा सकता है, न कि बाहुबल और हठधर्मिता से। बाहुबल की जीत स्थायी नहीं हो सकती, तर्क के बल पर सिद्ध की गई प्रस्थापनाएँ ही स्थायी होती हैं और चिरकाल तक उनको माना जाता है। ऐसी प्रस्थापनाओं को प्रतिपादित करने वाले आचार्यों के अनुयायियों की संख्या बढ़ती रहती है और वे प्रस्थापनाएँ कालातीत हो जाती हैं।

शंकराचार्य ने मंडन मिश्र के गाँव माहिष्मती (आज का महिषि) पहुँचकर जब उनके घर का रास्ता पूछा तो गाँव की महिलाओं ने उन्हें बताया कि जिस घर के बाहर पिंजरों में बँधे अथवा उसके आँगन के पेड़ों पर रहने वाले तोते भी बार-बार, रटन्त भाषा में ऐसे कठिन एवं दुरूह दार्शनिक प्रश्नों को दोहरा रहे हों कि 'क्या वेदों की वैधता स्वतः है, अथवा परतः?' 'क्या कर्मों में अपने फल उत्पन्न करने की अपरोक्ष क्षमता है, अथवा कर्मफल की उत्पत्ति के लिए ईश्वर आवश्यक है?' 'क्या जगत शाश्वत है अथवा वह प्रतीति-मात्र है?' जिस घर का ऐसा परिवेश हो वही मंडन मिश्र का घर है।'

प्रसंग के इस भाग के विश्लेषण एवं सूक्ष्म निरीक्षण से हम इस निर्णय पर पहुँच सकते हैं कि मंडन मिश्र के घर का परिवेश दार्शनिक समस्याओं के चिन्तन से पूर्णतः सराबोर था। किन्तु क्या वहाँ दार्शनिक समस्याओं एवं उनकी सम्भावित व्याख्याओं पर मनन भी होता था? तोते तो वही शब्द एवं वाक्य बोलते हैं जो वे बारम्बार सुनते

हैं। जो वाक्य उनके सामने बारम्बार दोहराए जाते हैं उन बातों को, उन वाक्यों को, उन शब्दों को वे बिना समझे, बिना सोचे, बिना उन पर मनन किए दोहराते रहते हैं। बारम्बार सुनने के कारण वे वाक्य, वे शब्द वे रट जाते हैं, और वे एक मशीन या एक टेपरिकार्डर की भाँति उन्हें दोहराते रहते हैं। उन्हें शब्दार्थ के प्रयोग-सिद्धान्त, उसके सन्दर्भ-सिद्धान्त (Context Principle) के बारे में कोई ज्ञान न होने के कारण वे केवल कुछ ध्वनियाँ निकालते रहते हैं। उन ध्वनियों को हम अपने भाषा-विज्ञान के ज्ञान के कारण शब्द अथवा वाक्य समझ लेते हैं। तो क्या मंडन मिश्र अपने विद्यार्थियों को किसी नई युक्ति, किसी तर्क के बिना, बिना समझे-बूझे और तर्क की कसौटी पर परखे बिना, केवल रटन्त विद्या सिखाते थे? यदि ऐसा था तो हमें इस प्रकार की शिक्षा से अपने-आपको, अपनी शिक्षण-प्रणाली को बचाना होगा। हमें अपने शिष्यों को तर्क विद्या में पारंगत करना होगा। गाँव की महिलाओं द्वारा मंडन मिश्र के निवास-स्थान को तोतों की उपमा देते हुए लक्ष्य करना मुझे उनकी शिक्षा-पद्धति पर एक कटाक्ष प्रतीत होता है।

अपने अनुभव से ही हम जानते हैं कि रटना और बिना जाँचे-परखे किसी सिद्धान्त को मानना भारत में, और अन्य देशों में भी, ज्ञान-विज्ञान की प्रगति के लिए बाधक रहा है। विदेशों में भी गैलिलियो के समय में यूरोपीय दार्शनिक एवं वैज्ञानिक रटन्तू तोतों की तरह अरस्तु के सृष्टि-सम्बन्धी विचारों को वेद-वाक्यों के समान सत्य मानते थे। गैलिलियो ने अपने प्रयोगों द्वारा, जाँच-परखकर, उचित प्रयोग-विधि द्वारा यह सिद्ध कर दिया कि अरस्तु गलत थे।

रटन्त विद्या, एवं बिना जाँचे-परखे पुनरावृत्ति के कारण ही गीता में मीमांसकों को "वेदवादरताः" (2.42) कहा गया है। गीता में कहा गया है कि मीमांसक वेद-वाक्यों विशेषतः आलंकारिक वाक्यों में ही उलझे रहते हैं और बारम्बार बिना किसी सुप्रस्थापित युक्ति या किसी नयी युक्ति के यह कहते रहते हैं कि वेदों में कर्मकांड के सिवाय कुछ नहीं है। ऐसे लोगों का लक्ष्य स्वर्ग-प्राप्ति, भोग-विलास, ऐश्वर्यपूर्ण जीवन-यापन ही है। वे तो जन्म को भी कर्मकांड का फल मानते हैं। गीता में ऐसे लोगों को 'अविपश्चित' - यानी अविवेकी, मन्दबुद्धी, अदूरदर्शी कहा गया है। वे अविवेकी हैं क्योंकि वे निःश्रेयस के बजाय प्रेय को चुनते हैं। वे कर्म इसलिए करते हैं कि उन्हें स्वर्ग एवं इहलोक में ऐश्वर्य, धन-धान्य, पशु एवं पुत्र (सन्तान) की प्राप्ति हो। हमारी विद्या ऐसी होनी चाहिए जो श्रेय एवं प्रेय में सामंजस्य करना सिखाए।

शंकराचार्य जब मंडन मिश्र के घर पहुँचे, उस समय मंडन मिश्र अपने पिता का वार्षिक श्राद्ध करने में व्यस्त थे। शंकराचार्य और मंडन मिश्र की यह पहली मुलाकात सौहार्दपूर्ण नहीं थी। मंडन मिश्र श्राद्ध के समय एक सन्यासी को देखकर गुस्से में आ गए। शंकराचार्य का उन्होंने स्वागत नहीं किया क्योंकि श्राद्ध के दिन किसी सन्यासी का आना शुभ नहीं माना जाता। मंडन मिश्र ने उन्हें अनेक कटु बातें कहीं। शंकर ने

भी उन कटु बातों का उत्तर कटु तर्कों द्वारा दिया। अन्ततः मंडन मिश्र ने शंकर को लताड़ते हुए कहा : “यह विश्व-विदित है कि ब्रह्मनिष्ठा (ब्रह्मज्ञान के प्रति निष्ठा) की बात वे ही करते हैं जो पत्नी का पालन-पोषण और उसकी देख-भाल में असमर्थ हैं और उनके शिष्यों के साथ पुस्तकों के ढेर उठाकर भिक्षाटन से जीवन निर्वाह करते हैं।” शंकर ने इसके उत्तर में कहा : “और कर्म निष्ठा (वेदों में वर्णित कर्म-कांड) क्या है? ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने में अक्षम होकर, अपने गुरु की सेवा का त्याग करके एक स्त्री का सेवक बन जाना।” इस पर मंडन मिश्र ने कहा कि, “अरे मूर्ख, तेरा जन्म भी एक स्त्री द्वारा हुआ है, तू उसका दूध पीकर बड़ा हुआ है। उसने ही तेरा पालन-पोषण किया है। तिस पर भी तू स्त्री के प्रति घृणा-भाव रखता है। अतः तू अत्यन्त कृतघ्न है।” शंकर ने प्रत्युत्तर में कहा, “स्त्री द्वारा दूध पिलाए जाने के बावजूद तुम उसके प्रति विषयासक्ति रखते हो, कामुक भाव रखते हो।”

संन्यासियों की जीवन शैली पर कटाक्ष करते हुए मंडन मिश्र ने कहा, “जो लोग गार्हपत्य आहवनी और दक्षिण अग्नियों की उपासना नहीं करते वे अपने पुत्र की हत्या का जघन्य अपराध करते हैं, और इसके पाप के भागी भी होते हैं।” इस पर शंकर ने कहा कि “तुमने तो आत्मज्ञान ही प्राप्त नहीं किया है, अतः तुम आत्महत्या के पाप के भागी हो।” अन्ततः मंडन मिश्र ने शंकर को कहा कि “शंकर चोर हैं क्योंकि वे उसके में चौकी दार को धोखा देकर बिना उनकी अनुमति से आए हैं।” प्रत्युत्तर में शंकर ने कहा की, “वास्तविकता में चोर तो आप हैं, क्योंकि आप संन्यासियों और ब्रह्मचारियों को भोजन दिए बिना स्वयं भोजन करते हैं। यह आचरण वेद-विरुद्ध है।”

किन्तु अपने सम्बन्धियों के बीच-बचाव और बलपूर्वक आग्रह देने पर मण्डन मिश्र ने शंकराचार्य से उनके वहाँ आने का कारण पूछा। शंकराचार्य ने कहा कि वे सुदूर दक्षिण से उनसे शास्त्रार्थ करने के लिए आए हैं। शास्त्रार्थ की उनकी शर्त केवल यह है कि यदि शास्त्रार्थ में वे जीत जाते हैं तो मंडन मिश्र अपने शिष्यों सहित उनके शिष्य हो जाएँगे, और यदि मंडन मिश्र की विजय होती है तो शंकराचार्य अपने शिष्यों सहित, मंडन मिश्र के सदस्य बन जाएँगे।

मंडन मिश्र जिनकी आयु उस समय लगभग सत्तर वर्ष थी, तीस वर्षीय शंकराचार्य की इस चुनौती को स्वीकार करते हुए कुछ हिचकिचाए। उन्होंने कहा की एक सत्तर वर्षीय व्यक्ति के लिए जिसने हजारों शास्त्रार्थों में विजय पाई हो, एक तीस वर्षीय नवयुवक से शास्त्रार्थ करना उचित नहीं है। किन्तु शंकराचार्य के निरन्तर आग्रह करने पर वे शास्त्रार्थ के लिए इस शर्त पर तैयार हो गए कि शंकराचार्य ही शास्त्रार्थ के निर्णायक का चुनाव करेंगे। मंडन मिश्र ने यह भी कहा कि वाद-विवाद का प्रयोजन विजसी होना होता है, वह कोई शब्दों का खेल नहीं है जिसका अन्त अधिक बोलने के कारण वादियों और प्रतिवादियों के सूखे गले होते हैं। किसी भी शास्त्रार्थ में दो प्रतियोगी होते हैं, जो इस समय हम दोनों हैं, कोई प्रस्थापना होती है जिसके पक्ष और

विपक्ष में तर्क दिए जाते हैं। किसी भी वाद-विवाद में पहले से ही यह सुनिश्चित होना चाहिए कि विजयी होने और हारने की क्या कसौटी होगी और विजसी होने या हारने के परिणाम क्या होंगे यह भी पहले से ही निर्धारित होगा कि शास्त्रार्थ का निर्णायक कौन होगा और हारने या जीतने वाले को क्या पुरस्कार मिलेगा। आप संन्यासी हैं और मैं एक गृहस्थ हूँ, अतः प्रारम्भ में ही जीतने वाले का पुरस्कार पूर्णतः निर्धारित करके हमें शास्त्रार्थ के अखाड़े में हँसते हुए प्रसन्न मन से उतरना चाहिए।

मंडन मिश्र की पत्नी उभय भारती के यह कहने के बावजूद कि वे मंडन मिश्र की पत्नी हैं, और शास्त्रार्थ में यदि शंकराचार्य हार गए तो वे इसका कारण पत्नी द्वारा पति का पक्षपात करना न समझें, शंकराचार्य ने उन्हीं को शास्त्रार्थ का निर्णायक चुना। शंकराचार्य ने उभय भारती के संक्षय का निराकरण यह कहकर दिया कि योग्य निर्णायक केवल निर्णायक होता है।

शास्त्रार्थ के आरम्भ में शंकराचार्य ने सभी विविध अस्तित्ववान वस्तुओं में एकत्व होने के बारे में अपनी प्रस्थापना इन शब्दों में मंडन मिश्र के सम्मुख प्रस्तुत की : “सत्+चित्त+आनन्द ब्रह्म ही परम सत्य है। वही एक संसार के अनेक रूपों में हमें दिखाई देता है।” छः महीने तक हजारों दर्शकों के समक्ष शास्त्रार्थ चलता रहा। उभय भारती दोनों प्रतियोगियों का वाद-विवाद के आरम्भ में ही पानी में भीगी एक माला देती थीं। शर्त यह भी थी कि शास्त्रार्थ के समय वह माला सूखनी नहीं चाहिए। जिसकी माला सूख जाएगी वह हार जाएगा।

इन छः महीनों में विचारणीय प्रश्न के पक्ष एवं विपक्ष के प्रत्येक पहलू पर इन दो भट्ट विद्वानों के बीच बिना क्रोधित हुए, बिना किसी गाली-गलौज के, पूर्णतः शान्त भाव से, सौहार्द्रपूर्ण वातावरण में शास्त्रार्थ चलता रहा। उन्होंने पक्ष एवं विपक्ष के प्रत्येक बिन्दु पर विवाद किया, तर्क दिए, उद्धरण दिए और उनकी विवेचना की। छः महीने चले शास्त्रार्थ को सुनने के वाद निर्णायक भारती ने निर्णय दिया कि शंकराचार्य जीत गए हैं, और मंडन मिश्र हार गए हैं, क्योंकि यह पूर्णतः सिद्ध हो गया है कि आध्यात्मिक ज्ञान कर्मकांड से कहीं श्रेष्ठ है।

कथा के इस प्रकरण से हमें यह शिक्षा मिलती है कि विवाद करने वाले दो पक्षों में कटुता नहीं अपितु सौहार्द्र होना चाहिए। वयोवृद्ध एवं अनुभवी मंडन मिश्र द्वारा युवक शंकराचार्य को निर्णायक चुनने की छूट देना दर्शाता है कि वाद-विवाद का लक्ष्य जीत या हार न होकर, सत्य की निष्पक्ष, वस्तुनिष्ठ खोज करना होता है। वाद-विवाद कोई वैयक्तिक बात न होकर, एक वस्तुनिष्ठ सिद्धान्त की एक वैज्ञानिक पद्धति द्वारा खोज है। शास्त्रार्थ और इसका परिप्रेक्ष्य वैज्ञानिक की प्रयोगशाला के समान है जहाँ बिना किसी लाग लपेट के सिद्धान्तों का परीक्षण एवं निरीक्षण किया जाता है। इसमें, आयु-भेद से भी कोई अन्तर नहीं पड़ता।

कहीं शास्त्रार्थ में उलझे प्रतियोगियों में कोई कटुता तो नहीं आ गई, या फिर अपनी हार या जीत को लेकर कहीं वे क्रुद्ध, उत्सुक, उद्विग्न और चिन्ताग्रस्त तो नहीं हो गए यह जाँचने के लिए ही भारती दोनों प्रतियोगियों को बहस के आरम्भ में ही एक गीली माला दे देती थीं। क्रोधित, उत्सुक, उद्विग्न एवं चिन्ताग्रस्त व्यक्ति की देह का ताप भी बढ़ जाता है, जिससे माला जल्दी सूख जाती है। प्रतियोगियों की मनःस्थिति के जानने के लिए ही भारती उन्हें भीगी हुई माला देती थीं। यह भी सच है कि मंडन मिश्र के तर्क समाप्त होने के साथ-साथ उनकी माला भी सूख गई थी। अपने तर्क-वितर्क में हमें अपनी मनःस्थिति को सामान्य बनाए रखना चाहिए। न तो हमें उत्सुक होना चाहिए, न ही चिन्ताग्रस्त, क्योंकि तर्क वैयक्तिक नहीं होते, और न ही जीत या हार वैयक्तिक होती है। जीत या हार, दोनों कही, तर्कों की श्रेष्ठता की होती है।

इस प्रसंग में उभय-भारती एक आदर्श के रूप में उभरती हैं, क्योंकि अपने निर्णय पर पहुँचने से पहले वे शास्त्रार्थ को पूर्णतः स्वतन्त्र एवं तटस्थ मन से, किसी लाग-लपेट के बिना, वस्तुनिष्ठता एवं शुचितापूर्वक सुनती हैं और निर्णय पर पहुँचती हैं। किसी निर्णायक में इन गुणों का होना आवश्यक है - बल्कि यह कहना अधिक उचित होगा कि इन गुणों का निर्णायक में होना निर्णायक बनने की पहली शर्त है। निर्णायक को स्वयं को पूर्णतः विचाराधीन मामले में झोंक देना चाहिए, उसे पक्ष एवं प्रतिपक्ष के प्रत्येक तथ्य एवं तर्क को जाँचना-परखना चाहिए और निर्णय पर पहुँचकर आलंकारिक, गोल-मोल और अस्पष्ट भाषा में नहीं अपितु सीधी-सपाट भाषा में अपना निर्णय सुनाना चाहिए। उभय भारती ने यही किया। उन्होंने निर्णायक भाषा में कहा “मेरा निर्णय है कि शंकराचार्य सही हैं और मंडन मिश्र गलत हैं। शंकराचार्य ने अपने मत को पूर्णतः सिद्ध कर दिया है, और मंडन मिश्र उसका खंडन नहीं कर पाए हैं।” किसी भी निर्णय के रूप का यही प्रतिमान होना चाहिए।

निर्णायक में निर्णायक बनने की क्षमता होनी चाहिए, उसका स्त्री या पुरुष होना कोई मायने नहीं रखता। सम्भवतः यही कारण है कि वही शंकराचार्य जो सामान्यतः अपने दार्शनिक और नैतिक मानस में स्त्रियों के प्रति अरुचि रखने वाले प्रतित होते हैं, इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण शास्त्रार्थ में एक स्त्री को, वह भी विरोधी की पत्नी को, निर्णायक की भूमिका में चुनते हैं। निहितार्थ यह है कि तत्त्व निर्णय के लिए व्यक्ति को लिंग, जाती, वय आदि समस्त सीमाओं से ऊपर उठना होता है। उसे अपनी व्यष्टि को त्यागकर समष्टिमय होना होता है। वह निर्वैयक्तिक हो जाता है।

उभय भारती के निर्णय सुनाने के बाद सारी सभा में कुछ क्षण के लिए सन्नाटा छा गया। इस सन्नाटे को भारती ने ही तोड़ा। उन्होंने भरी सभा में कहा “शंकराचार्य, आपकी जीत अधूरी है क्योंकि मैं मंडन मिश्र की अर्धांगिनी हूँ। आपने मंडन मिश्र को तो जीत लिया है किन्तु उनके आधे भाग, यानी मुझे, नहीं जीता है। मुझ पर जीत

प्राप्त करने के बाद ही आपकी जीत पूर्ण होगी।” शंकराचार्य यह सुनकर स्तब्ध रह गए। वे छः महिने के गहन वाद-विवाद से थक चुके थे। वे और पंडित-सभा शुरु में तो इसके लिए तैयार नहीं हुए क्योंकि उनकी मान्यता थी कि स्त्रियों के साथ यशस्वी लोग शास्त्रार्थ नहीं करते। किन्तु जब उभय भारती ने विद्वत्सभा को यह प्रत्युत्तर दिया कि, “गार्गी के साथ याज्ञवल्क्य ने, सुलभा के साथ राजा जनक ने शास्त्रार्थ की तो क्या वे यशस्वी नहीं रहे।” यह सुनकर शंकराचार्य ने उनसे शास्त्रार्थ करना स्वीकार किया। वैसे भी अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए दमय भारती की चुनौती को स्वीकार करना ही था। इस बार उन्होंने मंडन मिश्र को ही शास्त्रार्थ का निर्णायक चुना जिन्हें वे शास्त्रार्थ में हरा चुके थे।

अपने पति के साथ हुई शास्त्रार्थ-प्रतियोगिता के दौरान ही उभय भारती यह जान गई थीं कि शास्त्रों में आचार्य शंकर को जीतना असम्भव है। उन्हें यह भी मालूम था कि आचार्य शंकर बाल्यावस्था में ही संन्यासी हो गए थे, इसलिए वे काम-विषयक विषयों से अपरिचित थे। इस जानकारी के आधार पर भारती ने प्रतियोगिता के आरम्भ में ही कहा कि मेरी रुचि ब्रह्मसूत्र, भगवद्गीता इत्यादि में न होकर वात्स्यायन द्वारा रचित कामसूत्र में है। शंकराचार्य यह सुनकर चकित रह गए। वे तो बाल ब्रह्मचारी, बाल संन्यासी थे। जब शंकराचार्य ने भारती को भरी सभा में काम-विषयक अपने अज्ञान के बारे में बताया, तो भारती ने उन्हें काम-विषयक ज्ञान प्राप्त करने के लिए छः मास का समय देते हुए कहा कि यदि वे इस अवधि में अपने आपको काम-शास्त्र के ज्ञान में पारंगत कर पाएँ तो शास्त्रार्थ के लिए वापिस आ जाएँ, और यदि वे ऐसा न कर पाएँ तो उन्हें हार मानकर वापिस दक्षिण में चला जाना चाहिए और यह मान लेना चाहिए कि उनका ज्ञान अपूर्ण एवं अब्यापक है और इसीलिए उनकी जीत अपूर्ण है।

हम सब जानते हैं कि शंकराचार्य ने इस चुनौती को स्वीकार किया और अगले छः मास में न केवल काम-शास्त्र के सैद्धान्तिक पक्ष को बल्कि व्यावहारिक पक्ष में भी प्रवीणता प्राप्त की। जब वे प्रतियोगिता के लिए वापिस आए तो भारती ने हँसते हुए उन्हें कहा कि शास्त्रार्थ अनावश्यक है, क्योंकि वे तो मंडन मिश्र की अर्धांगिनी हैं और इस रूप में, इस भूमिका में मंडन मिश्र की हार में उनकी भी हार है। “उनकी जीत में मेरी जीत है, उनकी मृत्यु मेरी मृत्यु है, उनके सुख में मेरा सुख है और उनके दुःख में मेरा दुःख है।” अतः भारती ने माना कि मंडन मिश्र के हारने से वे भी हार गई हैं, वाद-विवाद प्रतियोगिता की कोई आवश्यकता नहीं है।

कथा के इस प्रसंग से हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि भारती न केवल एक सुविज्ञ निर्णायक थीं, अपितु वे एक समर्पित पत्नी भी थीं। अपने पत्नी-धर्म को उन्होंने बखूबी निभाया। जब वस्तुनिष्ठ कारणों, जैसे कि शंकराचार्य के मत के खंडन में सुदृढ़ तर्क न दे पाने, शंकराचार्य द्वारा अपने प्रतिपादित मतों के खंडन का उत्तर न

दे पाने के कारण मंडन मिश्र हार गए तो एक पत्नी के रूप में भारती ने उनकी हार को जीत में बदलने का निर्णायक प्रयास किया। वे इस तथ्य से सुपरिचित थीं कि शंकराचार्य बाल संन्यासी हैं और उन्हें कामशास्त्र के बारे में कोई ज्ञान नहीं है। न ही उनसे ऐसा ज्ञान अपेक्षित था। वे समझती थीं कि बाल संन्यासी होने के कारण, और संन्यास व्रत लेने के कारण शंकराचार्य सम्भवतः कामशास्त्र का सैद्धान्तिक और व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त नहीं करेंगे। यदि वे कामशास्त्र के सैद्धान्तिक पक्ष को जानने का प्रयास करें भी, तो भी वे उसका व्यावहारिक पक्ष तो कदापि नहीं जान पाएँगे। और शास्त्रार्थ को अधूरा छोड़कर वापिस दक्षिण चले जाएँगे। किन्तु शंकराचार्य ने ऐसा किया नहीं यह एक अलग बात है।

शंकराचार्य ने ऐसा क्यों नहीं किया? सम्भवतः इसलिए कि वे इस बात को बखूबी जानते थे कि ज्ञान के अनन्त आयाम हैं और ज्ञानी को सभी आयामों का ज्ञान होना आवश्यक है। परन्तु ज्ञान के सभी आयामों पर महारथ हासिल करना लगभग असम्भव है। इसलिए हमारा ज्ञान पूर्ण ज्ञान एक पक्ष ही होता है और हमें अपने ज्ञान पर दम्भ नहीं करना चाहिए। इस प्रकरण से हमें यह भी शिक्षा मिलती है कि यौन या कामशास्त्र पर खुली बातचीत करना वर्जित नहीं है। किन्तु जो बात विशेषतः अवधेय है वह यह है कि किसी भी ज्ञान के दो पक्ष होते हैं—सैद्धान्तिक और व्यावहारिक।

सैद्धान्तिक ज्ञान व्यावहारिक ज्ञान का पूरक है, और ज्ञान बिना सैद्धान्तिक ज्ञान के व्यावहारिक ज्ञान अपूर्ण। यही कारण था कि शंकराचार्य जैसे संन्यास-व्रतधारी को कामशास्त्र के व्यावहारिक ज्ञान को प्राप्त करने के लिए परकाय-प्रवेश करना पड़ा।

किसी भी युक्ति के कम-से-कम दो पक्ष होते हैं। इसी प्रकार युक्ति में प्रयुक्त किसी भी आधार वाक्य के भी सन्दर्भ-सिद्धान्त (Context Principle) के अनुसार अनेक अर्थ हो सकते हैं। उभय भारती ने इन सिद्धान्तों का बखूबी प्रयोग किया। पहले तो उन्होंने शंकराचार्य की जीत को यह कहकर अधूरा कहा कि अर्धांगिनी को हराए बिना मंडन मिश्र पर जीत हासिल नहीं की जा सकती। बाद में उन्होंने शंकराचार्य की जीत को यह कहकर पूर्ण कह दिया कि मंडन मिश्र की हार से उनकी अर्धांगिनी भी हार हो गई। विचित्र ही है कि शंकराचार्य इस द्वन्द्वत्मक युक्ति को समझ नहीं पाए। क्या इससे एक स्त्री का, एक पत्नी का, तर्क-विद्या में पारंगत होना सिद्ध नहीं होता!

ज्ञान केंद्र के लिए प्रस्तावना

पवन कुमार गुप्त*

आज के युग में साधारण व्यक्ति के लिए जीना लगातार दूभर हो रहा है। पिछली कुछ सदियों से दुनिया ने जिस गति से 'तरक्की' की है, 'विकास' हुआ है, उसी अनुपात में साधारण और साधारण व्यक्ति की जगह सिकुड़ती गई है। साधारण व्यक्ति पर विशेष बनने के लिए चौतरफा दबाव है। विशेष का अर्थ, दूसरों से कुछ अलग, दूसरों से कुछ ज्यादा—किसी भी कीमत पर। वैसे तो हर व्यक्ति जन्म से ही हर दूसरे से, बहुत से आयामों में, अलग है ही—शरीर की बनावट, ताकत, प्रवृत्ति (वात, पित्त, कफ) से लेकर उसकी चेतना का स्तर, मानसिक प्रवृत्तियाँ, समझने की प्रक्रियाएँ, योग्यता, ग्राह्यता, झुकाव, पसंद-नापसंद, इत्यादि। यह एक सिद्धांत जरूर है कि हर मनुष्य की क्षमताएँ एक जैसी होती हैं और मूल चाहनाओं के स्तर पर मनुष्यों में समानता भी है, बावजूद इसके, हर व्यक्ति अलग भी है। पर यह सारे आयाम, शारीरिक बनावट को छोड़कर, अमूर्त या अस्पृश्य क्षेत्र के हैं; आज जिस अर्थ में विशेषता की बात होने लगी है, वह इससे अलग है।

आज की आधुनिकता या विकास के युग में, अमूर्त की नहीं, स्पृश्य की तूती बोलती है और अमूर्त की लगभग अनदेखी की जाती है। विशेष का अर्थ भी आज, (मूर्त रूप से) अलग 'दिखने' और 'लगने' से है। व्यक्ति मूल्यों और गुणों (अस्पृश्य) से प्रेरणा और प्रेरित हो कर जीने से अधिक (दूसरों के) प्रभाव में जीने लगा है, जहाँ मूलतः स्पृश्य की ही नकल होती है। यह चलन बहुत पुराना नहीं है। हमारे यहाँ अमीर और गरीब के रहन सहन में बहुत फर्क नहीं हुआ करता था। धरमपाल जी के शोध कार्य से इन बातों के प्रमाण भी मिलते हैं। याद आती है एक योरोपीय यात्री की बात जो अठारहवीं शताब्दी के अंत में या उन्नीसवीं शताब्दी के शुरुआती दिनों में भारत आया था। उसने अपने यात्रा वृत्तांत में हैदराबाद में घूमते हुए आश्चर्य प्रकट किया है कि 'दरबारी और सामान्य नागरिक के बीच भेद करना मुश्किल है। ध्यान से देखने

* सिद्ध, (Society for Integrated Development of Himalaya, SIDH) हेजलवुड, लेन्डर कैंट, मसूरी-248179

पर दरबारियों के कपड़े कुछ ज्यादा उजले जान पड़ते हैं, बस। उदयपुर के राजा भी अपने व्यक्तिगत खर्च के लिए, अंग्रेजों के कब्जे से पहले, अपने खजाने से एक हजार रुपये महीने ही ले सकते हैं। अंग्रेजों के आने के बाद उन्हें हजार रुपये दिन के मिलने लगे। आज राजा महाराजाओं के जिन-जिन महलों में पाँच सितारा होटल खुले हैं, उनका मुआयना करने से पता चलेगा कि इनमें से प्रायः सभी बीसवीं शताब्दी के दूसरे या तीसरे दशक में बने। इसके पहले ये लोग भी इस तरह शायद नहीं रहते थे। किलों की जिंदगी और महलों की जिंदगी में बड़ा फर्क होता है। यह विशेषता और दिखावे का रोग, योरोप में कुछ सदियों पुराना और हमारे यहाँ लगभग एक शताब्दी पुराना है।

पर इस रोग से भारत का समाज बहुत तीव्र गति से ग्रस्त होते जा रहा है। जो साधारण जीवन जीना चाहते हैं, और अधिकतर लोग ऐसा ही चाहते भी हैं, बिना दूसरे का हक छीने, इस तरह से जी पाना मुश्किल होता जा रहा है। आक्रामकता और होड़, दूसरे को धकेल कर ही, आज ऐसा लगता है व्यक्ति अपनी साधारण जरूरतें भी पूरा कर सकता है स्कूलों में दाखिले से लेकर, राशन कार्ड, खाना पकाने के लिए किरासिन, बिजली, पानी, किसी भी आवश्यकता को लें, इन्हें पाना सहज नहीं रह गया है। जिन चीजों के लिए सोचने की जरूरत भी नहीं हुआ करती थीं; जिन पर समाज और परिवारों का अपना अधिकार होता था, जिन्हें वे खुद या आस-पास पैदा कर पाते थे और आपस में लेन देन करके अपना जीवन चला पाते थे, उनसे आज व्यक्ति महरूम होते जा रहा है। पहले सुविधाओं के नाम पर समाज की आदत बदली जाती है और वे जब इन सुविधाओं पर पूरी तरह से निर्भर हो जाते हैं और पुराने तरीकों को लगभग भूल चुके होते हैं, तो व्यवस्था हावी हो कर उन्हें स्वार्थी और बेईमान बनने पर मजबूर कर देती है। सरकारी व्यवस्थाएँ हर तरफ से हमें जकड़े हुए हैं। गाँधी जी ने 1916 में कहा था कि किसी भी सभ्य समाज में आवश्यक वस्तुओं की जरूरत पूरा करने की चिंता किसी को भी नहीं होनी चाहिए और याद दिलाया कि सभी धर्मों में भी यही कहा गया है कि 'कल की चिंता मत करो', इसका आधार भी यही है। दान की, वस्तु विनिमय, बचत और तड़क-भड़क से दूर रहने की परम्पराओं के चलते पैसे का महत्व कम और आवश्यक वस्तुओं का महत्व ज्यादा था। आवश्यक वस्तुएँ स्थानीय समाज स्वयं पैदा कर लेता था, या आस-पास से जुगाड़ कर लेता था। स्थानीय समाज सशक्त थे। वस्तुओं को बनाने, उनके वितरण और उनकी कैसे देखभाल होनी है, इन सब पर समाज का अधिकार था और समय-समय पर समाज के सयाने एवं परम्पराएँ 'कैसे करना है' का दिशा निर्धारण करती थीं।

'अच्छे' की परिभाषा अलग थी। स्वास्थ्य के लिए जो आहार अनुकूल, वह अच्छा होता था। स्वाद नदारद थाऐसा नहीं, पर स्वास्थ्य की वरीयता थी; पहले स्वास्थ्य फिर स्वाद। समाज में खाने-पीने और स्वास्थ्य की अच्छी समझ थी, जो आधुनिकता के युग में विलुप्तप्राय हो गई हैं। सामान्य व्यक्ति अपने परिवार के सदस्य

की देखभाल करने में सक्षम नहीं रह गया है। आज होड़ के (बाजार के) जमाने में स्वाद, स्वास्थ्य पर हावी है और स्वास्थ्य का पूरा दायित्व आधुनिक स्वास्थ्य प्रणाली को दे दिया गया है, जिसमें अनुभव पर कम और यंत्रों पर अधिक भरोसा है। एक आम परिवार आज अपनी कमाई का लगभग 25% हिस्सा डॉक्टरों, हस्पतालों और बीमा कंपनियों को देने को मजबूर सा हो गया है। जिस प्रकार स्वाद स्वास्थ्य पर हावी है वैसा ही अन्य जरूरत और बे-जरूरत की वस्तुओं के साथ हुआ है। इस विकास के युग में हमारी प्राथमिकताएँ गड़बड़ा गई हैं।

समझ जब गड़बड़ा जाती है तो उसके परिणाम भी वैसे ही होंगे। होड़ और विशेष बनने की चाहत को आज का अर्थशास्त्र और उससे पोषित बाजार, बढ़ावा देता है। यह अनिवार्य है क्योंकि बाजार की सफलता इसी पर टिकी है। 'अच्छे' की नई नई परिभाषाएँ बनायी जाती हैं। 'स्थिति' पर से नजर हटकर मात्र 'गति' पर टिकी जा रही हैं। साश्वत सत्य की जगह, तात्कालिक और आनन-फानन में जो चमत्कृत कर दे, वह हावी है। परंपराएँ बनने में सदियों लगती हैं, पीढ़ियों का अनुभव होता है, उनके पीछे। बहुधा जो दिखता है, वह होता नहीं। बहुधा जो अभी और तुरंत में ठीक और सही लगता है उसके दूरगामी परिणाम विपरीत होते हैं। आधुनिक दवाइयों के तात्कालिक परिणाम चमत्कृत करनेवाले हो सकते हैं पर दूरगामी परिणाम भयंकर होते हैं। यही बात कृषि में कृत्रिम खाद के परिणामों पर भी लागू होती है। और यही किस्सा बहुत सी आधुनिक तकनीक और यंत्रों पर भी लागू होता है। यहीं परम्पराओं का सही दिशा दिखाने में बड़ा योगदान होता है/था। परम्पराएँ समाज के लम्बे अनुभव से जनित होती रहती हैं, सहज गति से उनमें संशोधन भी होते हैं; परम्पराएँ जड़ नहीं होतीं। उन पर किसी एक का आधिपत्य नहीं होता, न ही कोई व्यक्ति विशेष उन्हें बनाने का दावा करता है, कर भी नहीं सकता। परम्पराओं के जन्म का रिश्ता समाज से होता है, किसी व्यक्ति विशेष से नहीं। परम्पराओं को समाज का हर व्यक्ति समझे, यह न तो मुमकिन है, न ही जरूरी। पर समाज, इस बात पर आस्था रखते हुए कि, इसने पहले भी रास्ता दिखाया है, आगे भी दिखाएगा, उस पर चलता है।

पर आधुनिकता (आधुनिक विज्ञान और शिक्षा) ने हर पुराने ज्ञान और परम्पराओं पर टिकी हुई आस्थाओं को तोड़ा है। शाश्वत सत्य को अनदेखा कर तात्कालिक पर ही नजर रहे, ऐसा आधुनिकता ने कर दिया है, जिससे आस्थाएँ टूटी। गलत रूढ़ियों को बढ़ा-चढ़ा कर या तोड़ मरोड़कर, उन्हें परम्परा का नाम दे कर, भी ऐसा किया गया। साथ ही आधुनिक विज्ञान और तकनीक के त्वरित परिणामों को बढ़ा चढ़ा कर, महिमामंडित करके लोगों को चमत्कृत किया गया; उसके उन पक्षों को आम जनता से छुपाया जाता है जो व्यक्ति से फिजूलखर्च करवाती हैं, उसे अधिक पर-निर्भर और मजबूर बनाती है। उसे तीव्र से तीव्रतर गति में रहने को प्रेरित करके उसके विवेक से उसे दूर कर देती है। वह बदहवासी में जीने लगता है इसी प्रकार जीने

का आदी हो जाता है। उससे 'खाली' नहीं बैठा जाता, अशांत रहता है, सहज नहीं हो पाता और इस अशांति को दूर करने के लिए हर समय बदलाव, त्वरित बदलाव से ही, किसी तरह अपना संतुलन रख पाता है।

व्यापार को हमारे यहाँ उद्योग/उत्पादन से छोटा माना गया है। पर अब इन दोनों से अलग 'सर्विस इंडस्ट्री' के नाम से ऐसी व्यवस्था पैदा हो गई है, जिसमें बिना उत्पादन किए, भयंकर लूट का इंतजाम हो गया है। और जिसे लूटा जा रहा है, वही इस व्यवस्था का हिमायती हो चला है।

जब समझ भटकती है, परम्पराएँ टूटती हैं तो समाज टूटता है। समाज की सौंदर्य दृष्टि और अपने विगत की स्मृति लगभग नष्ट हो जाती है। व्यक्ति व्यक्ति से अलग हो कर प्रतिद्वंद्वी हो जाता है। सगे अपनों से होड़ करने लगते हैं, सहयोग और प्रेम की जगह, ईर्ष्या और द्वेष पनपने लगता है। व्यवहार में ईमानदारी की जगह दिखावा और औपचारिकता ले लेती है। इस विकास के युग में यही हो रहा है। इस युग की मान्यताओं में विरोधाभास भरा है। और अब ये विरोधाभास बड़ी समस्याओं के रूप में दिखाई भी पड़ने लगे हैं।

युद्ध और आतंकवाद इनमें से एक हैहथियारों का उत्पादन और व्यापार लगातार बढ़ता जा रहा है। दुनिया की आबादी के एक बड़े हिस्से की रोटी, कपड़ा और मकान जैसी बुनियादी आवश्यकताएँ भी पूरी नहीं हो रहीं। गरीबी और अमीरी का फासला बढ़ता जा रहा है पर हथियारों पर खर्च लगातार बढ़ते जा रहे हैं। और यह सब युद्ध और आतंकवाद को रोकने के नाम पर हो रहा है। युद्ध, आतंकवाद और हिंसा का कोई समाधान दुनिया जिस रास्ते पर चल रही है उस रास्ते दिखाई नहीं पड़ता। साधारण की अवमानना और होड़, आक्रामकता, इस राह पर हिंसाव्यक्तिगत, सामाजिक और राष्ट्रों के बीच अवश्यम्भावी है।

स्पृश्य जगत में प्रतिस्पर्धा बढ़ा कर ही फिजूल वस्तुओं की खपत बढ़ सकती है, जिसका सीधा संबंध आज के बाजार और अर्थतन्त्र से है। फिजूल खपत का संबंध प्रकृति के बढ़ते दोहन से है। इस दोहन का असर फिर अनिश्चित मौसम, बढ़ते तापमान, समुद्र स्तर के बढ़ने पर तो होता ही है, साधारण मनुष्य का शोषण भी होता है। जिस प्रकार के विकास पर आज का अर्थतन्त्र चल रहा है वहाँ छोटे और स्थानीय की जगह नहीं है। बड़ी परियोजनाएँ, बड़े, कल-कारखाने, बड़े बाँध, छोटी दुकानों की जगह बड़े मॉल; विकेंद्रीकृत और स्वायत्त प्रणालियों और व्यवस्थाओं की जगह केंद्रीकृत व्यवस्थाएँ अर्थतन्त्र और उससे निकली नीतियों का अहम हिस्सा हैं। इस तंत्र में जिस प्रकार साधारण व्यक्ति की जगह नहीं, उसी प्रकार छोटे कारखानों, उद्योगों, छोटी मशीनों, कारीगर समाज, छोटे बाजारों की जगह सिकुड़ती चली जाती है। आज की तथाकथित लोकशाही में साधारण व्यक्ति की दुहाई तो दी जाती है, पर अमल में उसकी कोई जगह नहीं। उन्हें विकास और लोक कल्याण के नाम पर सदियों

से जिस भूमि पर वे बसे हैं, वहाँ से, उनसे बिना पूछे, चुटकी में बेदखल किया जा सकता है। 'या तो आज के तंत्र का हिस्सा/पुर्जा बनो वरना कोई जगह नहीं' असलियत यही है। हमारे यहाँ नौकरी करने को ओछा माना जाता था, अब सब नौकरी करने में अपनी शान समझने लगे हैं। नौकरी की मानसिकता से सब ग्रसित हैं; और बात स्वतन्त्रता की होती है। नौकरी करनेवाला हमेशा असुरक्षित रहता है। यह वर्तमान तंत्र के हित में है।

शिक्षा का अर्थ स्कूल और कालेजों की पढ़ाई हो गया हैक्या पढ़ाया जाय, क्यों पढ़ाया जाय इस पर चर्चा नहीं के बराबर है। स्कूल और कॉलेजों में जो शिक्षा दी जा रही है वह व्यक्ति को इसी तंत्र का हिस्सा बनने के लिए, नौकर बनाने के लिए और खपत को बढ़ाने के लिए दी जा रही है। पढ़ा-लिखा उत्पादन से हट कर नौकरी करने में अपनी शान भी समझता है और ऐसा करना उसकी बाध्यता भी बनती जा रही है।

दुनिया के बड़े अफसर, राजनीतिक, उद्योगपति, व्यापारी और नीति निर्णायक-इन सब में एक मोटी सहमति दिखाई पड़ती है कि व्यवस्था ऐसे ही चलेउसमें बीच-बीच में थोड़ा बहुत परिवर्तन करते रहना, कुछ छोटे-मोटे आंदोलन भी होते रहे, जिससे लोग भुलावे में रहें की उन्हें इस तंत्र में छूट हैअपने अधिकार की लड़ाई लड़ने की, भी इस सोच और तंत्र का हिस्सा है। पिछली एक सदी में दुनिया के बड़े और नामी लोगों में महात्मा गाँधी एकमात्र ऐसे व्यक्ति दिखाई पड़ते हैं जिन्होंने इस तंत्र को ठीक से समझा और लोगों को समझाने का प्रयास भी किया। "हिन्द स्वराज" एक ठोस उदाहरण है। जिन्होंने इस तंत्र के विभिन्न आयामों की, शिक्षा, स्वास्थ्य प्रणाली, लोकशाही, आधुनिक तकनीक और आधुनिक न्याय प्रणाली के बीच जो ताल-मेल है, उसे समझा। यह तंत्र समाज को तोड़ कर व्यक्तिवाद और परिवारवाद को बढ़ावा देता है, सहयोग की जगह प्रतिस्पर्धा को बढ़ाता है और अंततः समाज को तोड़ देता है। यह जरूरी भी है क्योंकि ऐसी व्यवस्था चलती रहे इसके लिए जरूरी है कि लोग संगठित न हो सकें, क्योंकि कमजोर समाजों में संगठित नहीं हो पातेसब अपना-अपना फायदा और अपनी जिंदगी चलाने में खप जाते हैं। आज की व्यवस्थाएँ पर-निर्भरता बढ़ा कर, समाज के अपने को बनाए रखने के, अपने को सुरक्षित रखने के तरीके, उनके 'सपोर्ट सिस्टम' को खत्म कर रही हैं। और जब समाज टूटता है तो अमीर व्यक्ति भी असुरक्षित हो जाता है। समाज सशक्त रहता है तो गरीब भी सुरक्षित महसूस करता है। गाँव की हमारे यहाँ परिभाषा भी, बकौल श्री रवींद्र शर्मा 'गुरुजी' के "गाँव वह है जहाँ हर एक के लिए भोजन की सुरक्षा और सम्मान की व्यवस्था हो", रही है।

हर देश और समाज की अपनी-अपनी जीवन दृष्टि रहती है। इसी जीवन दृष्टि से व्यक्ति का आपसी व्यवहार और प्रकृति के साथ कैसा रिश्ता होइसके तरीके

निकलते हैं। हमारे यहाँ चराचर में जीवन, उसके प्रति कृतज्ञता और सम्मान का भाव और परस्परता की समझ रही है। कम में जीना, बचत, दिखावे को ओछी नजर में देखना, विविधता का सम्मान और साथ ही विविधता में समताइन सब की समझ हमारे यहाँ रही है। अब समानता के नाम पर, जो अपने में एक दिखावा और धोखा ज्यादा है, एकरूपता का चलन हो गया है। हमारे यहाँ व्यापक स्तर पर स्पृश्य-सत्ता, पैसे इत्यादि को उतना महत्व कभी नहीं दिया गया, जितना मूल्योंसादगी, त्याग, कृतज्ञता, सहजता, शांति, विश्राम इत्यादि को।

एक वाकया याद आता है। महात्मा गाँधी एक बार दक्षिण में तंजौर की यात्रा करते वक्त एक किसान से पूछते हैं, “तुम्हारा राजा कौन है?” किसान आसमान की तरफ हाथ उठाकर जवाब देता है, “होगा कोई, असली राजा तो वो है।” आज का कोई बड़ा आदमी होता तो किसान की अनभिज्ञता पर मायूस होता और उसे ‘शिक्षित’ करने के उपाय ढूँढ़ता। पर महात्मा गाँधी को किसान के जवाब में शक्ति दिखी कि वह लौकिक की जगह पारलौकिक में अधिक विश्वास रखता है और अगर उसकी इस समझ को आधार बना कर, उसे अधिक पुष्ट करके काम हो तो देश के साधारण लोगों में शक्ति का संचार हो सकता है।

महात्मा गाँधी की लड़ाई सभ्यागत थी। उन्हें हमारे आम आदमी, जो आधुनिक शिक्षा के प्रभाव से बचा था, के सोचने, काम और व्यवहार करने के तरीकों में एक गहरी समझ दिखती थी, जो हम पढ़े-लिखों को प्रयास करने पर भी नहीं दिखती। पढ़े-लिखों का तो साधारण व्यक्ति से सहज संवाद ही बंद-सा हो गया है। उनकी भाषा, मुहावरे और सोचने समझने के तरीकों में इतना फासला आधुनिक शिक्षा और अन्य प्रभावों में, जिसमें वह जीता है, ने पैदा कर दिया है, कि दो अलग-अलग दुनियाएँ हो गई हैं।

आधुनिक विज्ञान की बुनियाद, आधुनिक शिक्षा एवं तमाम आधुनिक व्यवस्थाओं की बुनियाद एक ही है। इसने ऐसा कर दिया है कि जो अभी दिखता है उसी में विश्वास होने लगा है, अर्थ के बजाय शब्द भारी हो गए हैं, ‘होने’ के बजाय ‘दिखने’ पर ध्यान लगने लगा है, शाश्वत की जगह तत्कालीन ने ले ली है। परम्पराओं और अनुभव जनित ज्ञान, लोक विद्याओं को अंध-विश्वास कह कर रद्दी की टोकरी में डाल दिया है। शिक्षा के क्षेत्र में जो प्रयोग हो रहे हैं उनमें से अधिकांश इसी व्यवस्था के अंतर्गत हो रहे हैं, आधुनिकता के बनाए कठघरों के भीतर। इसलिए इन प्रयोगों को व्यवस्था लील लेती है, बुनियादी बदलाव हो नहीं पाता। यही बात देश में हो रहे विभिन्न आंदोलनों पर लागू होती है। ईमानदारी से किए गए प्रयास भी इसलिए भटक जाते हैं।

इस आधुनिकता को गहराई से समझने की जरूरत आज पहले से कहीं ज्यादा महसूस हो रही है। आधुनिक व्यवस्थाओं के मकड़-जाल को समझे बिना हम किसी

समाधान पर नहीं पहुँच सकते। बहुत से लोग यह मानते हैं कि सिर्फ शाश्वत सत्य को समझने से ही बात पूरी हो जाएगी पर ऐसा नहीं है। ठीक वैसे ही जैसे आधुनिक सोच रखनेवाले तत्कालीन को महत्व देते हैं। पर हमारी समझ इन दोनों धाराओं को साथ देखकर, महत्व दे कर ही बनी है। मनुष्य स्पृश्य/मूर्त और तत्कालीन में जीने को बाध्य है और साथ ही शाश्वत सत्य से इंकार करने पर बरबादी के अलावा कहीं नहीं पहुँच सकता, क्योंकि वह तो नित्य वर्तमान है। मनुष्य का जीवन इन दोनोंशाश्वत और तत्कालीनसे संचालित है। मनुष्य जानते हुए भी वह सब करने को बहुधा बाध्य हो जाता है जो सही नहीं है। ऐसा पहले भी होता रहा है। पहले यह स्वयं की कमजोरियों की वजह से ज्यादा होता था, पर आज तो इसमें आधुनिक तंत्र और व्यवस्था एक बड़ी भूमिका अदा कर रही है। ‘विकास’, ‘लोकशाही’, ‘प्रगतिशीलता’, ‘शिक्षा’ इत्यादि शब्द इन्हीं कठघरों के कुछ उदाहरण हैं, जिनके अर्थ सिमट गए हैं और इन सिमटे हुए अर्थों से दुनिया हाँकी जा रही है। इसी तरह हमारी पढ़ाई-लिखाई का हाल है। विश्वविद्यालयों और कालेजों में हर विषय अपने-अपने कठघरों में फँसे पड़े हैं। हमारा बहुत-सा ज्ञान इसलिए इनके अंतर्गत आता ही नहीं। अंग्रेजी इतनी हावी है कि पढ़ा-लिखा सिर्फ पश्चिम से प्रभावित साहित्य और पाठ्यपुस्तकों को पढ़कर, उसे ही संपूर्ण ज्ञान मान लेता है। उन्होंने शिक्षा और विज्ञान के मार्फत ऐसे कठघरे बना दिये हैं, जिनकी वजह से आम पढ़े-लिखे के सोचने-समझने के दायरे भी बाँध दिये गए हैं। इसलिए यह भी जरूरी हो गया है कि शाश्वत नियमों के साथ-साथ हम इन कठघरों (कटेग्रीज) को भी समझें, व्यवस्थाओं को समझें।

जिन व्यवस्थाओं में हम जी रहे हैं, वे अन्य प्रकार के मूल्यों पर आधारित है, जहाँ सत्ता, समाज पर हावी रहती है, जहाँ समाज को तोड़कर व्यक्तिवाद और परिवारवाद को बढ़ाया जाता है, जहाँ ‘पर्याप्त’ और ‘संतोष’ जैसे शब्द, शब्दावली में नहीं हैं, जहाँ ज्ञान की नहीं, जानकारी की, सामरिक और पैसे की शक्ति की पूजा होती है, जहाँ होने पर नहीं दिखावे पर ध्यान भटकाया जाता है, जहाँ स्थिति की अनदेखी कर के गति पर ध्यान दिया जाता है, जहाँ धीमे और सहजता का उपहास होता है और तीव्रता को ही विकास का प्रतीक माना जाता है। इस तरह की मान्यताएँ और उससे उपजी संस्थाओं और व्यवस्थाओं से दो बड़ी मुश्किलें हमारे लिए हैं। एक मुश्किल जिसका जिक्र इस पर्व में पहले भी हुआ है वह तो सार्वभौम हैपूरी दुनिया उससे ग्रस्त है। पर हमारे लिए एक और संकट है। हम कितना ही आधुनिक हो जाएँ, हमारी सभ्यागत मान्यताएँ भी कहीं अंदर, गहरे में दबी पड़ी होती हैं। हमने पश्चिम के प्रभाव में, उनकी नकल पर, अपने कानून, संस्थाएँ और व्यवस्थाएँ तो बना ली, पर वे हमसे ठीक से चलती नहीं क्योंकि हमारा स्वभाव, अंदर दबी पड़ी मान्यताओं, से उनका ताल-मेल बैठ नहीं पाता, बावजूद कम-से-कम सौ साल के ‘शिक्षित’ होने के अथक प्रयास के। इसलिए आज की दुनिया में भी हम मौलिक रूप से कुछ कर नहीं पाते,

अच्छे नकलची बनाने के अलावा। हर क्षेत्र में 'अच्छे' की परिभाषा कहीं और से ही आती हैं और हम उनका अनुसरण या नकल करते रहते हैं।

दुनिया में विचार का संकट है, और विचार जो इस समय दुनिया को चला रहे हैं, उनका संबंध वहाँ की सभ्यतागत जीवन दृष्टि से है। इस प्रकार से वर्तमान संकट, सभ्यतागत है। इसलिए हमें ऐसे प्रयास करने होंगे जिससे कम-से-कम हम अपनी नजरों से स्वयं को, हमारे समाज को, परंपरा को, पश्चिम को, हमारे पड़ोसियों को, शाश्वत नियमों को यानि विधान को, आज की व्यवस्थाओं को, प्रणालियों को देखें और समझें। प्रयोग भी करने होंगे। हम अपनी जड़ों से, अपनी सभ्यतागत मान्यताओं से कट गए हैं। स्मृति को जगा कर, सही समझ और नजरिया पैदा करके संस्थाओं और व्यवस्थाओं को अपने सभ्यतागत स्वभाव के अनुरूप ढालना होगा। अपनी जीवन दृष्टि को समझकर उसका मूल्यसांकन और फिर उस बैठक पर हमें अपनी विद्याओं, संस्थाओं और व्यवस्थाओं को खड़ा करने के प्रयोग करने होंगे, जिससे एक मानवीय परंपरा, मानवीय समाज और मानवीय व्यवस्था की नींव पड़े।

आचार्य वल्लभ और भक्ति

त्रिभुवननाथ शुक्ल*

आचार्य वल्लभ वेदांत परंपरा के उन वैदिक्यमान नक्षत्रों में से हैं, जिन्होंने अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैत, द्वैताद्वैत की समरसता को अपने चिंतन में समावेशित किया है। वाद या भाव की दृष्टि से यदि हम विचार करें तो वल्लभ का दार्शनिक मत शुद्धाद्वैत के संज्ञा से संज्ञित किया जाएगा, किंतु यदि हम इसके समग्र विचारों पर दृष्टिपात करें तो यह बात हमें स्पष्ट रूप से दिखाई देगी कि वे ज्ञान, भक्ति एवं कर्म को मात्र साधन के रूप में स्वीकार कर पूर्णतत्त्व को प्राप्त करने या वैसा ही हो जाने का विचार, उनके समग्र साहित्य में देखने को मिलेगा।

वेदांत शब्द का निर्वचन करते हुए कहा जाता है, 'वेदान्तो नाम उपनिषदो प्रमाणः' अर्थात् उपनिषद् जिसके प्रमाणस्वरूप हैं, वह वेदान्त है। कारण यह कि वेदान्त को वेद का शिर भाग कहा गया है 'वेदस्य शिरोभागः वेदान्तः' और यह शिर भाग उपनिषद् है, जो उसकी प्रामाणिकता को प्रमाणित करता है। इस क्रम में यदि हम वल्लभ के चिंतन का अवगाहन करते हैं तो उनका यह चिंतन एक नई शैली या भाव का संकेत करता है, जिसे हम शुद्धाद्वैत के नाम से जानते हैं। इस शुद्धाद्वैत की व्याख्या वल्लभ ने पुष्टि मार्ग से किया है, जो ज्ञान को भक्ति के माध्यम से पुष्ट करता है।

पुष्टि का अर्थ है ईश्वर की भक्ति के द्वारा कृपा, अनुग्रह या अनुकंपा आदि प्राप्त करना। ब्रह्म या ईश्वर द्वारा भक्त को प्रदान की जाने वाली भक्ति ही पुष्टि है। वल्लभ की विचारधारा में जाति विशेष का कोई स्थान नहीं है, कारण यह कि जिसके द्वारा हम अनुग्रहीत होते हैं, वह स्वतः लिंग भेद, जाति भेद और नाम भेद से रहित है। इनके शिष्य परंपरा में सूरदास, परमानंददास, कुंभनदास, कृष्णदास आदि का नाम प्रमुखता से लिया जाता है। इस परंपरा के भक्तों ने अशिक्षितों, शूद्रों, स्त्रियों आदि सभी को ईश्वर भक्ति के सहज मार्ग तक पहुँचाने का भागीरथ प्रयास किया है। यदि

* निदेशक, साहित्य अकादेमी, भोपाल एवं सम्पादक, साक्षात्कार, भोपाल, पूर्व प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष हिन्दी विभाग, जबलपुर विश्वविद्यालय, मो. 9425044685

हम वल्लभ के भक्ति मार्ग का आज के उपभोगवादी संस्कृति के संदर्भ में विचार करें तो यह हमारे जीवन में वैभव, विलास, लोभ, मोह आदि से निवृत्त एवं मानवीय प्रेम में प्रवृत्त करते हुए दिखाई देगा, जो आज की सबसे बड़ी आवश्यकता है।

भक्ति का अर्थ हैभक्त द्वारा भगवान को श्रद्धापूर्वक भजना। जो प्रत्यक्ष दृष्ट वस्तु जगत के पार यानि कि परोक्ष सत्ता के होने में विश्वास करते हैं, वे भक्त कहलाते हैं। अतः भक्ति भगवान के प्रति एक आत्मिक श्रद्धाभाव है। इसके जागरण से मनुष्य का चित्त सम और शीतल हो जाता है। ऐसी स्थिति में उसे हर्ष शोक, शुभ अशुभ, शत्रु मित्र, मान अपमान समभाव लगते हैं। 'भक्ति' मानवीय मूल्यों का गोमुख है। आज के वैज्ञानिक युग में भक्ति से रहित भौतिकता के तीव्र बयार में जो उपभोक्ता संस्कृति पनप रही है, वह मानव को आत्मिक सुख और मानसिक शांति प्रदान करने में अक्षम है। ऐसी स्थिति में यह विचार स्वाभाविक रूप से हमारे मनस्तल में आता है कि वास्तव में मनुष्य की क्या यही अंतिम स्थिति है? इस दिशा में विचार करने पर इसका निषेधात्मक उत्तर प्राप्त होगा। कारण यह कि आधुनिक विश्व मानव के हार्दिक सुख और आध्यात्मिक आनंद की तृप्ति इसी व्यक्ति-भावना, भक्ति, साहित्य और विषयातीत रस के रहने में हो सकेगी।

वल्लभाचार्य भक्ति से मुक्ति प्राप्ति का विधान करते हैं। वे मुक्ति प्राप्ति को भक्ति प्राप्ति का फल नहीं मानते। भक्ति स्वयं फल रूपा है। आगमशास्त्रों में तो ज्ञानी जनों की मुक्ति अंतःकरण का अत्यंत विलय होने के बाद आत्मा की केवल रूप में स्थिति का 'नाम' है। किंतु भक्तों की मुक्ति इष्ट देवता की नित्य लीला में प्रवेश होना हैइसी को वल्लभाचार्य परममुक्ति कहते हैं। संभवतः भक्ति निरूपक शास्त्रों को यही मुक्ति अभिप्रेत है।

भगवद्-भक्ति में अनुरक्त होने पर भक्त को वस्तुओं की चाह नहीं रह जाती, उसकी समस्त कामनाएँ शांत हो जाती हैं, सभी प्रपंच असत् प्रतीत होने लगते हैं। वल्लभाचार्य इस संदर्भ में भक्त-हृदय वृत्तासुर को भक्ति प्राप्ति होने पर उसकी स्थिति का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए कहते हैं

*न नाकपृष्ठं न च पारमेष्ठमं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम् ।
न योगसिद्धिरपुनर्भवं वा
समञ्जस त्वा विरहय्य काङ्क्षैः ।
अजातपक्षा इव मातरं खगाः
स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः ।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा
मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम् ॥*

अर्थात् यह कि हे समञ्जस! मैं आपको छोड़कर स्वर्ग, ब्रह्मलोक, भूमण्डल का साम्राज्य, रसातल का एकक्षत्र राज्य, योग की सिद्धियोंयहाँ तक कि मोक्ष भी नहीं चाहता। जैसे पक्षियों के पंखहीन बच्चे अपने माँ की बाट जोहते रहते हैं, जैसे भूखे बछड़े अपनी माँ का दूध पीने के लिए आतुर रहते हैं और जैसे वियोगिनी पत्नी अपने प्रवासी प्रियतम से मिलने के लिए उत्कण्ठित रहती हैवैसे ही कमल नयन! मेरा मन आपके दर्शन के लिए छटपटा रहा है।

भक्ति संपूर्ण समर्पण की दशा है। वहाँ किसी विषय सुख का ध्यान नहीं होता। अतः सब प्रकार से निरपेक्ष होने से काम, क्रोध, राग, द्वेष आदि का उसके हृदय में उद्भव ही नहीं होता। यह मन की ऐसी दशा है जिसमें सभी विषय-सुख उस अनिर्वचनीय सुख के सामने तुच्छ प्रतीत होते हैं। गीता में कहा गया है

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।

यद्यपि देह और प्राण से बढ़कर और कुछ भी प्रिय नहीं है तथापि भक्त भगवान के लिए उसका भी त्याग आनंदपूर्वक कर सकता है। भक्त जब भक्ति का रस ग्रहण कर लेता है, तब उसकी समस्त चेष्टाएँ दिव्य हो जाती हैं। श्रीमद्भागवत में स्वयं भगवान सात्त्विकी भक्ति करने वाले अपने भक्त की महत्ता का वर्णन करते हुए कहते हैं कि गदगद् वाणी के साथ जिसका चित्त द्रवित हुआ करता है, जो कभी रोता है, कभी हँसता है, कभी लाज छोड़कर ऊँचे स्वर से गाता है और नाचने लगता हैऐसा मेरा भक्त त्रिभुवन को पवित्र कर देता है

*वाग्गदगदा द्रवते यस्य चित्तं
रुदत्यभीक्षणं हसति क्वचिच्च ।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च
मद् भक्तियुक्तो भुवनो पुनाति ॥*

यहाँ प्रश्न उठता है कि भक्ति में ऐसी क्या विशेषता है जो मुक्ति में नहीं है? इसका समाधान वल्लभ के भक्ति चिंतन में स्पष्टतः देखने को मिलता है। उनके अनुसार मुक्ति में आत्यन्तिक निवृत्ति प्राप्त हो जाती है। दुख से आत्यन्तिक निवृत्ति ही उसका सुख है किंतु भक्ति में आनन्द की आत्यन्तिक निवृत्ति प्राप्त हो जाती है। ऐसा आनंद जिसके समक्ष मोक्षानंद भी हेय जान पड़ता है।

भजनं भक्तिः, भज्यते अनया इति भक्तिः, भजन्ति अनया इति भक्तिः इत्यादि 'भक्ति' शब्द की व्युत्पत्तियाँ कही जा सकती हैं। गरुड़ पुराण में कहा गया है

तस्मात् सेवा बुधैः प्रोक्ता भक्तिः साधनभूयसी ।

जिसमें किसी भी प्रकार की भक्ति है, उसे भक्त कहते हैं। भक्ति तथा भक्त के अनेक भेदोपभेद शास्त्रों में कहे गए हैं। भक्ति के बिना किसी भी मनोरथ की सिद्धि

नहीं हो सकती, यह सर्वानुभव-सिद्ध है। भगवत-प्राप्ति जैसा विषय भक्ति के बिना संभव है ही नहीं। वैदिक वाङ्मय में भक्ति शब्द का अर्थ 'भाग' अर्थ में दिखाई देता है। स्वामीनारायण ने 'सत्संगी जीवन' ग्रंथ में भक्ति को उपासना का पर्याय माना है

'भगवत्सेवा भक्तिरित्युच्यते।' अद्वैत संप्रदाय में उपासना का अर्थ हैसगुण ब्रह्म में मन लगाना। चित्त की एकाग्रता ही इसका परम प्रयोजन कहा गया है और सत्य लोक की प्राप्ति इसका अवान्तर फल है। मधुसूदन सरस्वती ने भगवद्भक्ति रसायन में भक्ति का लक्षण करते हुए कहा है

द्रुतस्य भगवद्धर्माद् धारा वाहिताङ्गता।

सर्वेसे मनसो वृत्तिर्भक्तिरित्यभिधीयते।।

अर्थात् सर्वेश्वर भगवान में भगवत धर्मों के अनुष्ठान से द्रवित हुए मन की धारा वाहिकता को प्राप्त वृत्ति 'भक्ति' कहलाती है। इस व्याख्या से स्पष्ट है कि भगवत धर्म से पवित्र हुआ मन जब अखण्ड धारा के रूप से सर्वेश्वर परमात्मा में स्थिर होकर तन्मय हो जाता है, तब उस वृत्ति को 'भक्ति' नाम से पुकारते हैं।

मधुसूदन सरस्वती भक्ति को अंतिम प्राप्य कहते हैं। वे मुक्ति प्राप्ति को भक्ति का फल नहीं मानते। भक्ति स्वयं फलरूपा है। वल्लभाचार्य ने जो भक्ति से मुक्ति कही है, उसका भी अभिप्राय यही है कि यदि मुक्ति होनी होगी तो भक्ति से ही हो सकती है और किसी मार्ग से नहीं। नारदसूत्र में नारद ने परम अनुराग को भक्ति कहा है। आचार्य शंकर ने 'स्वरूपानुसंधान' को भक्ति कहा है 'स्वरूपानुसंधानं भक्तिरित्यभिधीयते।' वास्तव में स्वरूपावगति ही अंततोगत्वा भक्ति का चरमफल है। इसलिए वेद में 'नान्यः पंथा विद्यतेऽपनाय' कहा गया है।

भक्ति का लक्षण कहते हुए रामानुज करते हैं किस्नेहपूर्वमनुष्ठानं भक्तिरित्युच्यते वुधैः। अर्थात् प्रेमपूर्वक अनुष्ठान चिंतन ही विद्वानों द्वारा भक्ति कहलाता है। कहने का तात्पर्य यह कि प्रियतम का अत्यंत प्रिय लगने वाला ध्यान या सतत् स्मरण ही भक्ति है। आचार्य निम्बार्क की सम्मति में प्रेम विशेष ही भक्ति का लक्षण है। यह दो प्रकार की हैपहली साधन भक्ति और दूसरी साध्य भक्ति। साधन भक्ति का दूसरा नाम है अपरा और साध्य भक्ति का दूसरा नाम है परा।

वल्लभाचार्य श्रीकृष्ण की सेवा को भक्ति शास्त्र का प्रथम अंग मानते हैं। श्रीकृष्ण के पोषण अर्थात् अनुग्रह से जिस भक्ति का उदय होता है, उसे पुष्टि भक्ति कहते हैं। वल्लभ दो प्रकार की भक्ति मानते हैंमर्यादा भक्ति और पुष्टि भक्ति। उनके अनुसार केवल भजन ही भक्ति नहीं है, वरन् जिसमें प्रियत्व ही प्रयोजन होता है, वही भक्ति है। 'केवलेन हि भावेन गोप्यो गावः खगा मृगाः' आदि श्रीमद्भागवत के वचनों में प्रयुक्त 'भाव' शब्द का अर्थ भक्ति ही है। भाव का अर्थ है देहादिविषयक रति। रति शब्द का अर्थ होता हैस्नेह। इसी कारण पुष्टि भक्ति में स्नेह का ही प्रधान्य है। यह रति आठ प्रकार की मानी गई हैरति, स्नेह, मान, प्रणय, राग,

अनुराग, भाव और महाभाव। सृष्टि में भक्ति को स्वभाव के प्रेम में डुबोकर, अलौकिक तत्त्व स्मरण कराकर, अहंता ममता को भुलाकर, दीनतापूर्वक प्रभु की सेवा कराने वाली भक्ति पुष्टि भक्ति कहलाती है। यह भक्ति प्रभु या गुरु कृपा के बिना नहीं होती। इसीलिए पुष्टि मार्ग को अनुग्रह मार्ग भी कहते हैं। श्रीकृष्ण के लीलारस के आनंद में से निकले हुए आनंदात्मक रसात्मक भावों ने जो भक्ति का स्वरूप ग्रहण किया, वही पुष्टि मार्ग है।

भक्ति स्वतः ही पूर्ण है। वह कर्म, ज्ञान या किसी प्रकार के साधन की अपेक्षा नहीं रखती। कर्म का उद्देश्य वैयक्तिक सुख है और ज्ञान का लक्ष्य है उस निर्विशेष ब्रह्म की प्राप्ति, जो द्वैत भावना से रहित है। अर्थात् जहाँ उपास्य-उपासक का भेद नहीं है। अतः भक्ति उन दोनों से भिन्न है। वल्लभ इस विषय में स्पष्ट रूप से कहते हैं कि जब तक साधक के हृदय में कर्म से प्राप्य भोगों के प्रति और ज्ञान से प्राप्त मोक्ष के प्रति अंशतः भी रुचि बनी रहेगी, तब तक उसमें भक्ति का प्रादुर्भाव नहीं हो सकेगा

भक्तिमुक्तिस्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्तते।

तावद भक्तिसुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत्।।

वास्तव में देखा जाए तो सभी शास्त्र एक मतेन इस मत का प्रतिपादन करते हैं कि भक्ति का मूलाधार प्रभु की कृपा ही है। भक्ति सिद्धांत के प्रसंग में कठोपनिषद् का यह मंतव्य'तमः क्रतुः पश्यति वीतशोको धातु प्रसादान्महिमानमात्मनः'वल्लभ चिंतन को बहुत प्रभावित किया है, जिससे वे यह स्थापित करते हैं कि भगवान के अनुग्रह से ही भक्त की कामना पल्लवित, पुष्पित एवं फलित होती है। इसी को वे पोषण का सिद्धांत कहते हैं।

भक्ति विकास को रसाचार्यों ने नौ मनोवैज्ञानिक क्रमों में प्ररोचित किया हैश्रद्धा, साधुसंग, भजन-क्रिया, अनिष्ट-निवृत्ति, निष्ठा, रुचि, आसक्ति, भाव और प्रेम। नारद उसके आद्याचार्य हैं। इनके भक्ति सूत्र (82) में इसके स्वरूप लक्षण एवं विकास के चरणों पर विस्तार से प्रकाश पड़ता है। उनके अनुसार भक्ति परानुरक्ति है। उन्होंने आसक्तियों के कुल ग्यारह सूक्ष्म चरणों को निरूपित किया है। ये हैंगुण महात्म्यासक्ति, रूपासक्ति, पूजासक्ति, स्मरणासक्ति, दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, कान्तासक्ति, वात्सल्यासक्ति, आत्मनिवेदनासक्ति, तन्मयासक्ति और परमविरहासक्ति।

भारत भक्ति का गोमुख है। यहाँ भक्ति दैन्य, अथवा दौरेवत्य का प्रतीक नहीं अपितु शक्ति का द्योतक है। कारण कि भक्ति शक्ति की ही की जाती है। आखिर वह शक्तिसंपन्न नहीं होगा तो अपने भक्त का संरक्षण क्या करेगा। इसी अर्थ में भक्ति की पूरी विकास-यात्रा का एक सुदृढ़ सोपान है। इसका बीज भाव हमें नारद भक्तिसूत्र में प्राप्त होता है।

वल्लभ संप्रदाय में भक्ति का वास्तविक लक्ष्य परमात्मा की उपलब्धि है। इसी की संप्राप्ति के लिए सर्ग-विसर्गादि लक्षणों का निरूपण किया गया है। ये लक्षण

श्रीमद्भागवद् की ज्ञान-कुक्षि से निःश्रित हैं, जिसका विवेच्य तत्त्व है भगवत् स्वरूप। इसके साथ उपन्यस्थ शेष नौ लक्षण ईश्वर के उसी स्वरूप के परिज्ञान के साधन हैं। इसीलिए भागवतकार ने स्पष्टतः उद्बाहु घोषणा की है

दशमस्य विशुद्ध्यर्थः नवानामिह लक्षणम् (२/१२)

परमात्मा तथा जीव का पारस्परिक संबंध ही इन तत्त्वों का मुख्य विवेच्य-पक्ष है। सर्ग, स्थिति, विरोध, विसर्ग तथा पोषणये भगवत् कृत्य हैं। इसी के साथ उत्पत्ति, स्थिति, लय, निग्रह तथा अनुग्रहये भागवत में प्रतिनिधि माने जा सकते हैं। यद्यपि परमेश्वर का स्वरूप अभेद्य तथा अविभाज्य है तथापि व्यावहारिक जगत के परिज्ञान हेतु इसके दो रूप स्वीकार किए गए हैं पहला भक्त के निमित्त ग्राह्य अनुग्राहक रूप, जिसका अधिधान 'आश्रय' है; दूसरा जगत के परिचालन के निमित्त कालरूप, जिसका उल्लेख 'मन्वन्तर' शब्द से किया गया है। यहाँ उल्लेख्य है कि मन्वन्तर शब्द भारतीय धर्म, अध्यात्म और संस्कृति का बीज शब्द है। इस प्रपंचात्मक जगत में जो कुछ भी है, वह सब किसी न किसी रूप में भक्ति से अनुस्यूत है। परमात्मा इसकी धारक शक्ति है और जीव उसका परिणामी तत्त्व है। यह कारण है और जीवन कार्य। वह गुण है और जीव उसका विस्तार। वह प्रकाशक है और जीव उसका प्रकाश्य। वह जल तत्त्व है और जीव उसकी तरंगें। वह पवन तत्त्व है और जीव उसका शैत्य है। यहाँ प्रश्न उठता है कि यह सब किससे विस्तारित है? और किससे व्यक्त है? उत्तर सहज है, यह भक्ति से ही विस्तारित है और उसी से व्यक्त भी। यह पंचमहाभूत शब्दादि तन्मात्राएँ, इन्द्रियाँ, अहंकार और महत् तत्त्व की उत्पत्ति उस परमात्मा के बिना असंभव है। यह उसी 'एकोऽहम् बहुष्यामः'का अनुलक्षण है। इसका परिसमाधान 'सर्ग' नाम के लक्षण में उपलब्ध है, जिसमें नेति-नेति पद्धति से जान पाते हैं। इसी प्रकार विसर्ग, स्थान तथा पोषण आदि लक्षणों से ईश्वर के क्रमशः स्वरूप, महात्म्य और कृ के भाव रूपों को जान पाते हैं। यह सब जान पाना अनुग्रह सापेक्ष है। यह श्रीमद्भागवत की अनेक कथाओं में उपलब्ध है। जहाँ तक वल्लभाचार्य और उनके शुद्धाद्वैत के साक्ष्य पर भक्ति के स्वरूप एवं उसके विकास की बात है वह सब का सब श्रीकृष्ण के बाल रूप पर आधारित है। सूरदास और उनकी परंपरा के कवियों ने ही वात्सल्यरूप वत्सल रस के माध्यम से व्यक्त किया है। यहाँ एक तत्त्व का निरसन जिज्ञासुओं के पक्ष में किया जाना आवश्यक है कि रसों के गणना के प्रसंग में वात्सल्य रस का उल्लेख मिलता है जो कि सर्वथा त्रुटिपूर्ण है। क्योंकि वात्सल्य तो भाव है और उसका रस वत्सल है। इसीलिए सूर आदि कवियों के प्रसंग में वात्सल्यभाव की बात की गई है न कि वात्सल रस की। इस परंपरा का विकास राम भक्त कवियों का भी मिलता है। जहाँ तक वल्लभ के शुद्धाद्वैत की बात है वह श्रीकृष्ण के इसी वात्सल्य भाव में अनुस्यूत है। इसकी पुष्टि भागवत के उस कथन से हो जाती है, जिसमें गुणानुवाद को भव रोग की महौषधि माना गया है

निवृत्ततर्पैरूपगीतमानद्

भवौषधाच्छोत्रमनोऽभिरामात् ।

क उत्तमश्लोकगुणानुवादात्

पुमानविरज्येत विना पशुध्नात् । (भाग. १०/१/४)

भगवत् कथा के अमृत पान से ही जागतिक प्रपंचों का विरोध होता है। इसी के आगे अपने उत्तरोत्तर क्रम में जीव अपने आत्मरूप से जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति से विरहित तुरीय परमात्मा में अपनी आत्मसंसिद्धि प्राप्त करता है। वह भगवत् नाम-रूप, लीला और धाम आदि चतुर्विधि रूप से भक्तजनों के कल्याण के लिए अवतरित होता है। प्रकरान्तर से हमारे अवतारवाद की यही पीठिका बनती है। इसी भगवत तत्त्व की लीला कथन का अवलंबन जीव की मुक्ति का साधन भी बनता है। इसी को लीला-विरोध पद से अभिज्ञापित किया गया है। यथा

नैमित्तिको विरोधोऽन्यो धर्मग्लानिनिमित्तम् (भाग. १०/१०/२)

उपर्युक्त श्लोक में महाप्रभु वल्लभाचार्य ने भगवान के भूमि भार का हरण करने वाले कर्मों को विरोध पद से व्यक्त किया है। इसके आगे की सरणि है मुक्ति। मुक्ति से तात्पर्य है अभेद्य रूप से नानात्व का परित्याग करके जीव का अपने स्वरूप में आत्मस्थ हो जाना। इसीलिए भागवतकार ने मुक्ति का उपाय भक्ति से ही खोज निकाला है। इसका अंतिम एवं दशम् लक्षण आश्रय है। यह आश्रय वही परब्रह्म परमात्मा है। उसी की सम्प्राप्ति हेतु उपर्युक्त नौ लक्षणों की प्ररोरचना की गई है। यहाँ आश्रय का सामान्य अथवा सहज अर्थ है क्षरण अथवा रक्षक। इसके अभाव में कल्याण का होना कथमपि संभव है ही नहीं। श्रीकृष्ण की संप्राप्ति में ही भक्ति रस समुत्भूत होता है। कारण कि श्रीकृष्ण रस स्वरूप हैं। इस रस स्वरूप की संप्राप्ति के लिए जीव को महाराग के भाव से उस परमात्म में आध्यापित हो जाने की आवश्यकता होती है, जिसके लिए सच्चा साधक बार-बार चेष्टा करता हुआ, उसमें अपने को विसर्जित कर उससे अभेदात्मक संबंध स्थापित कर लेता है। यही है भक्ति से मुक्ति का सात्विक उपाय, जो कि सारे उपायों से एकदम भिन्न भी है और निराला भी। इसी को शब्द देते हुए भागवतकार लिखते हैं

स आश्रयः परं ब्रह्म परमात्मेति शब्दते । (भाग. २/१०/७)

वस्तुतः परमात्मा का आश्रय मानना केवल भावना का विषय नहीं है। अपितु यह आश्रयत्व के बोध का विषय है। सच्चा शरणागत अपने को कभी अशरणागत मानता ही नहीं। वह यह मानकर चलता है कि वही परमतत्त्व हमारा आश्रय है और रक्षक भी। इस कथन की पुष्टि श्रीमद्भागवत् से होती है

विश्वस्य यः स्थितिलयोद्भहेतुराद्यः । (भाग. ३/१६/३७)

घट का आधार पृथ्वी है, पृथ्वी का आधार जल है, जल का तेज है, तेज का आधार वायु है और वायु का आधार आकाश है, आकाश का आधार महाकाश है। यह महाकाश जड़ नहीं चेतन है, नीरस नहीं आनंदमय है अनित्य नहीं, नित्य एवं सत् है। भगवान् व्यास ने इसकी पुष्टि 'आनंदमयो अध्यासात्' इस सूत्र से की है। श्रुति भी इसकी पुष्टि करती हैं

को ह्येवान्यात्कः प्रण्याद् यदेष आकाश आनंदो न स्यात् । एव ह्येवानंदयति ।

तैत्तिरीयोपनिषद्

इससे स्वतः सिद्ध है कि परमात्मा ही सबका सर्वाधार है। जैसेमिट्टी से उत्पन्न उसके विकार का संबंध पृथक् नहीं है, उसी तरह जीव का परमात्मा से अपृथक् तादात्म्य संबंध है। वल्लभाचार्य ने भागवत के सुबोधिनी टीका में कहा है कि परमसत्ता पर पूर्ण विश्वास कर उस पर निर्भर हो जाना ही जीवन का परम एवं चरम लक्ष्य होना चाहिए। क्योंकि शरणागत हुए बिना भगवत कृपा सुलभ हो ही नहीं सकती और जब यह सुलभ हो जाती है, तब सांसारिक विषयों से आसक्ति स्वयमेव निरसित होकर भक्तिरस में संगमित हो जाती है। उपर्युक्त विवेचित व्यक्ति के दस लक्षणों में व्यक्तिरस की अन्विति का यही मूलार्थ है।

विवेच्य विषय की चूडान्त स्थिति के लिए सगुण लीला और भक्तिरस की चर्चा आवश्यक है। इसके कुछ उपलक्षणों का संकेत वल्लभाचार्य जी ने यथास्थान अपनी सुबोधिनी टीका में किया है। इसकी महानीय उद्भावना 'प्रेमापुमर्थो महान' इसमें भक्त में अनुरक्त मन की आतुरता, उसके निःसीम आनंदमय उदधि में निमग्न होकर प्राप्त की जाती है। इसके लिए उन्होंने उसकी लीला माधुरी का बड़ा मनोहरी वर्णन किया है।

श्री वल्लभाचार्य ने सुबोधिनी टीका में भगवान के विलास की इच्छा को ही लीला नाम दिया है। लीलानंद का मुख्य प्रयोजन लीला ही है। वह रसरूप की है और उसका पिपासु भी। जैसा कि उन्होंने सुबोधिनी (भाग३) में लिखा है

लीला नाम विलासोच्छा कार्यव्यतिरेकेण कृतिमात्रम् । न तथा कृत्वा वहिः कार्य जन्यते । जनितमपि कार्यं नाभिप्रेतम् । नापि कर्तरी प्रयासं जनयति । किन्त्वन्तः करणे पूर्णे आनंदे तदुल्लासेन कार्यं जननि सदृशी क्रिया क्वचिदुत्पद्यते । तत्र नहि किंचित प्रयोजनमस्ति । लीला एव प्रयोजनत्वात् ।

वल्लभ संप्रदाय की मूल मान्यता वात्सल्य भक्ति ही है। इसकी अत्यंत सुंदर व्यवस्था पुष्टि मार्ग में बालकृष्ण की यथार्थ सेवा के रूप में की गई है। इसे अष्टयामी सेवा कहा जाता है। अर्थात् जागरण से लेकर शयन तक की सेवा। इसमें मंगला, श्रृंगार, ग्वाल, राजभोग, उत्थायन, भोग, संध्या तथा शयन के रूप में मान्य किया गया है। वस्तुतः भक्ति और लीला में अन्योन्याश्रित संबंध है। भगवान श्रीकृष्ण की

प्रमुखतः तीन अवस्थाएँ *भक्तिरसामृत सिंधु* (दक्षिण विभाग 1/119) में मानी गई हैं। चौथी अवस्था यौवन को भी मान लेने पर हमें इसकी चार अवस्थाएँ प्राप्त होती हैं।

श्रीवल्लभाचार्य द्वारा निरूपित शुद्धाद्वैत अंश अंशी के अभेदात्मक संबंध की भित्तिका श्रीकृष्ण के बालरूप पर आधारित है। इन्होंने इसकी समग्र मीमांसा श्रीमद्भागवत पर लिखी गई अपनी सुबोधिनी टीका में व्यक्त किया है। वस्तुतः इनकी यह ऐसी प्रतिपत्ति है जो सहज भी है और साध्य भी। चिंत्य भी है और उपास्य भी। जागतिक प्रतिमान इसके आधार हैं और भक्ति उसका गंतव्य। वे अपने इस गंतव्य से श्रीकृष्ण के बाल भाव रूप की ओर प्रेरित करते हैं। यह बहुत कुछ वैसा ही है जैसे तुलसी के इष्ट राम। यथाइष्ट देव मम बालक राम। इसके मूल में एक गहरी व्यंजना है वह यह कि बाल रूप निच्छल, सहज, सौम्य एवं स्पष्ट होता है। आज का विज्ञान भी यही बतलाता है कि चार वर्ष तक का बालक अपने भावों को अक्षरशः सत्य रूप में अभिव्यक्त करता है।

सन्त कबीर और गुरु नानक : अन्तरसम्बन्ध और अन्तरसंवाद

महीप सिंह*

सन्त कबीर और गुरु नानक के विचारों और अभिव्यक्तियों में अद्भुत साम्य है। इस साम्य को देखकर कुछ विद्वानों ने यह मत भी व्यक्त किया है कि गुरु नानक के विचारों का स्रोत सन्त कबीर की रचनाओं में प्राप्त होता है।

मध्य युग के ये दोनों सन्त कभी आपस में मिले थे इसका भी कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं प्राप्त होता। सन्त कबीर का समय सन् 1398 से 1494 तक माना जाता है। गुरु नानक का जन्म 1469 में हुआ था और 1539 में उनका देहावसान हुआ। इसका अर्थ यह है कि जिस समय गुरु नानक देव का जन्म हुआ कबीर जी की आयु उस समय 71 वर्ष की थी।

इस देश में भक्ति की उत्पत्ति और उसके विस्तार के सन्दर्भ में प्रायः इस दोहे का उल्लेख किया जाता है कि भक्ति का जन्म द्रविड़ प्रदेश में हुआ, स्वामी रामानन्द उसे उत्तर में लाए और सन्त कबीर ने उसे सभी ओर फैला दिया

भगती द्राविड़ ऊपजी लाए रामानन्द ।

परगट किया कबीर ने सात दीप नव खंड ।

द्रविड़ प्रदेश में जन्मे अलवार सन्तों की गिनती 12 कही जाती है। ये सभी समकालीन नहीं थे। इनका समय ईसा की सातवीं शती से बारहवीं शती तक फैला हुआ है। इन सन्तों में एक-दो के अतिरिक्त सभी नीची समझी जाने वाली जातियों में से आए थे। तमिल भाषा में इन भक्तों के पदों का संग्रह बारहवीं शती में किया गया था। इसे 'प्रबन्धम' कहते हैं। इस ग्रन्थ को तमिल वेद कहा जाता है।

अलवार सन्तों के पश्चात् दक्षिण भारत में वैष्णव धर्म की व्याख्या करने वाले अनेक आचार्यों की एक परम्परा विकसित हुई। रघुनाथाचार्य (दसवीं शती), यामुनाचार्य

(ग्यारहवीं शती), रामानुजाचार्य (बारहवीं शती), निम्बार्काचार्य (तेरहवीं शती), मध्वाचार्य (चौदहवीं शती) और वल्लभाचार्य (पन्द्रहवीं शती) में हुए। इन आचार्यों ने आद्य शंकराचार्य के अद्वैत सिद्धान्त की विविध ढंग से व्याख्या की। परवर्ती सन्तों-भक्तों की रचनाओं पर इनका गहरा प्रभाव पड़ा।

श्रीमद्भागवत पुराण में भक्ति ने अपने मुख से अपने विकास-क्रम की चर्चा की है—“मैं द्रविड़ प्रदेश में जन्मी, कर्नाटक में बड़ी हुई, महाराष्ट्र में मुझे सम्मान मिला, किन्तु गुजरात में मुझे बुढ़ापे ने आ घेरा। वहाँ घोर कलियुग के प्रभाव के कारण पाखण्डियों ने मेरा अंग-भंग कर दिया। इस स्थिति में मैं अपने दोनों पुत्रों (ज्ञान और वैराग्य) सहित दुर्बल और निस्तेज हो गई। अब जब मैं वृन्दावन में आई हूँ, पुनः बड़ी सुन्दर और रूपवान हो गई हूँ।”

जार्ज ग्रियर्सन के शब्दों में उत्तर भारत में भक्ति का आना बिजली की चमक की भाँति था। इस देश में भक्ति आन्दोलन किस प्रकार बढ़ा, इस सम्बन्ध में विद्वानों ने विभिन्न प्रकार के विचार प्रकट किए हैं। किन्तु एक बात पर व्यापक सहमति है कि मुस्लिम आक्रमणकारियों के निरन्तर आक्रमण और उनकी विजयों ने इस देश की जनता में व्यापक निराशा उत्पन्न कर दी थी। धीरे-धीरे यह सारा देश इन आक्रमणकारियों के अधीन हो गया। स्वामी वल्लभाचार्य (पन्द्रहवीं शती) ने अपने ग्रन्थ 'कृष्णाश्रय' में लिखा है—सम्पूर्ण देश म्लेच्छों से आक्रान्त है। गंगा जैसे तीर्थ दुष्टों द्वारा भ्रष्ट कर दिए गए हैं। अविद्या और अज्ञान के कारण वैदिक धर्म नष्ट हो रहा है। सत्पुरुष दुःखी और ज्ञानविहीन हो गए हैं। इस स्थिति में एकमात्र कृष्णाश्रय में ही जीवन का कल्याण है।

इसलिए इस तर्क में बड़ा बल है कि भक्ति आन्दोलन के इतने व्यापक प्रचार में उस समय की राजनीतिक परिस्थितियों की महत्त्वपूर्ण भूमिका थी। एक पराजित और पग-पग पर अपमानित जाति का अन्तरमुखी होकर प्रभु की शरण में जाना और उसकी भक्ति में जीवन की सार्थकता की खोज करना बड़ा सन्तोषप्रद विकल्प था।

पंजाब की स्थिति देश के अन्य भागों से कुछ भिन्न थी। ग्यारहवीं शती के प्रारम्भ में महमूद गजनवी के आक्रमणों, उत्तर-पश्चिम प्रदेश के अन्तिम हिन्दू राजा जयपाल और आनन्दपाल के पतन और गुरु नानक देव के जन्म, फिर मुगल आक्रान्ता बाबर के अनेक आक्रमणों (1518 से 1526) तक लगभग 500 वर्ष पंजाब को गुलामी, अशान्ति और अत्याचार का अन्धकाल कहा जा सकता है। ये पाँच शक्तियाँ मंगोलों, तुर्कों, अफगानों और मुगलों के निरन्तर आक्रमण और अराजकता की शक्तियाँ हैं। इस प्रदेश के सभी छोटे-बड़े हिन्दू राजा या तो समाप्त हो चुके थे या दिल्ली की सत्ता के अधीन हो गए थे। आम लोगों का मनोबल पूरी तरह टूट चुका था। प्रत्येक बाहरी आक्रमण के समय लोगों का व्यापक नरसंहार होता था। मंगोल आक्रान्ता तैमूर लंग के हमले (सन् 1398) के समय पंजाब के एक लाख से अधिक सामान्य लोग मौत के घाट उतार दिए गए थे।

*डॉ. महीप सिंह, डी, 2068, पालम विहार, गुड़गाँव-122017; मो. 9313932888

दक्षिण भारत से होती हुई भक्ति की जो लहर उत्त भारत में आई थी, उसमें भक्तों की व्यथा व्यक्त हुई थी। समकालीन स्थितियों के प्रति, प्रकट की गई इस व्यथा में रोष अथवा आक्रोश अधिक नहीं था। इसमें दीनता, हताशा और कातरता ही अधिक प्रकट हुई थी।

भारत के किसी अन्य भाग को विदेशी आक्रमणों और अत्याचारों का इतना लम्बा त्रास नहीं झेलना पड़ा था जितना पंजाब और उसके आस-पास के क्षेत्रों को। उस समय की राजनीतिक-सामाजिक दुर्दशा के प्रति असन्तोष और आक्रोश का पहला स्वर गुरु नानक की रचना में सुनाई दिया।

इस दृष्टि से एक और बात द्रष्टव्य है। भक्ति का प्रवाह दक्षिण भारत से महाराष्ट्र, गुजरात, मध्य भारत, राजस्थान और बंगाल-असम तक पहुँचा, फिर वह उत्तर प्रदेश के अवध और ब्रज क्षेत्रों में स्थिर हो गया। यह प्रवाह पंजाब की ओर अधिक नहीं बढ़ा। इस प्रदेश में न स्वामी रामानन्द वाली राम-भक्ति परम्परा विकसित हुई, न स्वामी वल्लभाचार्य वाली कृष्ण-भक्ति की परम्परा। सन्त नामदेव एक अपवाद हैं जो महाराष्ट्र से देशांतर करते हुए पंजाब में आए थे और यहाँ कुछ समय तक रहे थे।

गुरु नानक ने कई बार पूरे देश का भ्रमण किया। इस भ्रमण में वे अनेक स्थानों पर गए। अपने समय के सन्तों, भक्तों, पण्डितों, सूफियों, योगियों के साथ संवाद किया। उन्होंने इन यात्राओं में जयदेव (बंगाल), नामदेव (महाराष्ट्र), त्रिलोचन (महाराष्ट्र), परमानन्द (महाराष्ट्र), सैण (मध्य भारत), धन्ना (राजस्थान) तथा आज के उत्तर प्रदेश के स्वामी रामानन्द, कबीर, रविदास और मुलतान (पश्चिमी पंजाब) से सूफी सन्त शेख फरीद आदि अनेक सन्तों की रचनाओं का संग्रह किया, जिसे बाद में गुरु अर्जुन देव ने 'आदिग्रन्थ' में सम्मिलित किया।

इस प्रकार अन्तरसंवाद की जिस परिपाटी को गुरु नानक ने प्रारम्भ किया वह 'आदिग्रन्थ' के सम्पादन में पूरी तरह रूपायित हुई।

मैं इस अन्तरसंवाद को सन्त कबीर और गुरु नानक के विशेष सन्दर्भ में रखकर देखना चाहता हूँ। दोनों की समकालीनता में चाहे सात दशकों का अन्तर हो, किन्तु दोनों के विचारों का साम्य बरबस हमारा ध्यान आकर्षित करता है।

सन्त कबीर काशी में पैदा हुए। यह नगर उस समय कट्टर, पुराणपन्थी, संस्कृत प्रेमी, परम्परावादी ब्राह्मणों का गढ़ था। बड़ी हद तक आज भी है। मान्यता यह है कि इस नगर में जिसकी मृत्यु होती है, उसे स्वर्ग प्राप्त होता है। इसीलिए भारत के अनेक भागों, विशेषरूप से पूर्वी भारत के बहुत से लोग विधवाओं को इस नगर में छोड़ जाते हैं। कबीर जी का व्यक्तित्व अनोखा था। कहा जाता है कि वे एक विधवा ब्राह्मणी की सन्तान थे। लोक-लाज के भय से उनकी माँ ने उनका त्याग कर दिया। एक मुसलमान जुलाहा परिवार में उनका पालन-पोषण हुआ। मुसलमान परिवार में पोषित होने के

कारण वे मुसलमान ही माने गए। कबीर शब्द भी अरबी भाषा का है। जुलाहा जाति भी नीची जाति मानी जाती है, मुसलमानों में भी। कबीर बहुश्रुत थे। उन पर नाथपन्थी योगियों का प्रभाव भी दिखता है और सूफियों का भी। किन्तु उनकी सम्पूर्ण मानसिक बनावट हिन्दू (वैष्णव) भक्तों वाली है। इसलिए वे मुसलमानों और हिन्दुओं दोनों के लिए अजूबा भी थे और तिरस्कृत भी थे।

ऐसे घोर विरोधी वातावरण में सन्त कबीर ने भक्ति का मार्ग अपनाया, राम-नाम को उसका आधार बनाया। स्वामी रामानन्द को गुरु रूप में स्वीकार कर लिया और अत्यन्त निर्भय होकर अपने मार्ग पर चल पड़े, यह घोषणा करते हुए

*कबिरा खड़ा बाजार में लिए लुकाटी हाथ ।
जो घर जाँले आपना सो चले हमारे साथ ॥*

उन्होंने अनेक परम्परागत हिन्दू मान्यताओं की कटु आलोचा की और मुसलमान रीतियों की भी। उन्होंने पण्डितों-पुरोहितों को उनके आडम्बर और कर्मकाण्ड के लिए आड़े हाथों लिया और मुल्ला-मौलवियों को भी नहीं बख्शा। दोनों समुदायों के अगुवा उनके शत्रु हो गए और राज-दरबारों में जाकर उनकी शिकायत करने लगे।

सन्त कबीर ने राम-नाम को अपना आधार बनाया था, किन्तु उस राम को नहीं जो दशरथ-पुत्र है। कबीर का राम वह निर्गुण राम है जो घट-घट वासी है

*दसरथ सुत चहुँ ओर बखाना ।
राम नाम का मरम न आना ॥*

इसी भाव को सन्त कबीर के समकालीन सन्त रविदास ने भी प्रकट किया था

*रविदास हमारो राम जी दसरथ करि सुत नाहिं ।
राम हमउ महि रमि रहयो बिसब कटुबह माहिं ॥
घट घट विआपक राम है रामहि बूझे कोइ ।
रविदास बूझे सोइ राम कू जउ राम सनेही होइ ॥*

भक्तों की जो वाणी गुरु नानक ने अपनी यात्राओं के समय एकत्र की थी वह सदा उनके सम्मुख थी। विचारों की साँझ के कारण उस युग के सन्त अपने पूर्ववर्तियों और समकालीन सन्तों की वाणी में अभिव्यक्त भावों की पुष्टि करते थे, उसका विस्तार करते थे, उसे अपना रूप-रंग देते थे। कुछ पदों में सन्त कबीर और गुरु नानक में ऐसी साँझ बहुत स्पष्ट दिखाई देती है। जीवात्मा और परमात्मा के मिलन और विवाह के दृष्टान्त के माध्यम से सन्त कबीर ने एक पद में कहा है

*तनु रैणी मनु पुन रवि करि हउ पाचउ तत बराती ॥
राम राइ सिउ भावरि लै हउ, आतम तिह रंग राती ॥*

गाउ गाउ री दुलहनी मंगलचारा ॥
मेरे गृह आए राजा राम भतारा ॥1॥ रहाउ॥
नाभि कमल महि बेदी रचिले ब्रह्म गिआन उचारा ॥
राम राइ सो दुलहु पायो, अस बड़ भाग हमारा ॥2॥
सुरि नर मुनि जन कउतक आए, कोटि तेतीस उजाना ॥
कहि कबीर मोहि बिआहि चले है, पुरख एक भगवाना ॥3॥

इस पद में एक पंक्ति में 'ब्रह्म ज्ञान उचारा' और 'अस बड़ भाग हमारा' द्वारा सन्त कबीर ने इस बात की ओर संकेत किया है कि यह मिलन सद्गुरु के शब्द के कारण परमात्मा की कृपा से हुआ है। गुरु नानक ने इन्हीं भावों को अधिक विस्तार देकर अपने एक पद में लिखा है

करि किरपा अपने घरि आइआ ॥
ता मिलि सखीआ काजु रचाइआ ॥
खेल देखि मनि अनदु भइआ,
सहु विआहण आइआ ॥1॥
गावहु गावहु कामणी बिबेक बीचारु ॥1॥ रहाउ॥
गुरु दुआरे हमरा विआहु जि होआ ॥
जा सहु मिलिआ ता जानिआ ॥
तिह लोका महि सबदु रविआ है,
आपु गइया मन मानिआ ॥2॥
अपना कारजु आपि सवारे, होरनि कारज न होई ॥
जितु कारजि सतु सन्तोखु दइया धरमु है,
गुरमुखि बूझै कोई ॥3॥
भनति नानकु सभना का पिरु ऐको सोइ ॥
जिस नो पदरि करे सा सोहागणि होई ॥4॥

एक और पद में सन्त कबीर कहते हैं

गुड़ करि गिआनु धिआनु करि महुआ भउ माठी मन धारा ॥
सुखमन नारी सहज समानी, पीवै पीवन हारा ॥1॥
अवधू मेरा मनु मतवारा ॥
उनमद चढ़ा मदनु रसु चाखिआ ॥
त्रिभवन भया उजिआरा ॥1॥रहाउ॥

इस विचार-साम्य का पद गुरु नानक ने रचा

गुड़ करि गिआनु धिआनु करि धावै, करि कारणी कसु पाईए ॥
भाठी भवन प्रेम का पोचा, इतु रसि अमिउ चुआइए ॥1॥
बाबा मनु मतवारो नाम रसु पीवै सहज रंग रचि रहिआ ॥
अहिनिस इनी प्रेम लिव लागी सबदु अनाहद गहिआ ॥2॥

गुरु नानक ने अनेक सन्तों-भक्तों की वाणी का संग्रह किया था। उनके ब्रह्मलीन होने के पश्चात् यह सम्पूर्ण संकलन दूसरे गुरु, गुरु अंगद देव के पास आया और उन्होंने यह थाती अपने उत्तराधिकारी गुरु अमरदास को दी। गुरु अतरदास जी की वाणी में भी सन्त कबीर से भाव-साम्य प्रकट करते हुए कुछ पद हैं। कबीर का एक श्लोक है

कबीरा मरता मरता जगु मुआ, मरि भि न जाने कोई।
ऐसी मरनी जो मरै बहुरि न मरना होई ॥

गुरु अमरदास जी का एक पद है

किआ जाणा किव मरहगे कैसा मरणा होइ।
जेकर साहिबु मनहु न वीसरै ता सहला मरणा होइ ॥
मरणे ते जगतु डरै, जीविआ लोड़ै सभु कोइ ॥
गुर परसादी जीवतु मरै, हुकमी बूझै सोइ ॥
नानक ऐसी मरनी जो मरे तां सद जीवणु होइ ॥

सन्त कबीर और गुरु नानक की वाणी में कुछ समान तत्त्व उभरते हैं परमात्मा एक है। वह असंख्य देवी-देवताओं में बँटा हुआ नहीं है। सभी अवतार परमात्मा की आज्ञा में ही विचरते हैं। मनुष्य मात्र समान है। जात-पात, ऊँच-नीच का परमात्मा के सम्मुख कोई महत्त्व नहीं है, इसलिए इनका त्याग करना चाहिए। परमात्मा की प्राप्ति के लिए किसी विशेष वर्ण, भाषा, वस्त्र, तीर्थ, धर्म-स्थान की अनिवार्यता नहीं है। यह सर्वव्यापी है, अनन्त है और घट-घट वासी है।

'आदिग्रन्थ' में संगृहीत एक पद में सन्त कबीर जी ने परमात्मा की सर्वव्यापकता और अनन्तता की चर्चा करते हुए कहा है

कोटि सूरज कै परगासा ॥ कोटि महादेव अरु कबिलासा ॥
दुरगा कोटि जा कै मरदनु करै ॥ ब्रह्मा कोटि बेद उचरै ॥1॥
जउ जाचउ तउ केवल राम ॥ आन देव सिउ नाही काम ॥
कोटि चन्द्रमे करहि चराक ॥ सुर तेतीस उजेवाहि पाक ॥
नव ग्रह कोटि ठाढे दरबार ॥ परम कोटि जा कै प्रतिहार ॥2॥

इसी भाव को व्यक्त करते हुए पाँचवें गुरु, गुरु अर्जुन देव का एक पद है

कोटि बिसन कीनै अवतार ॥ कोटि ब्रह्मांड जाकै धरम साल ॥
कोटि महेश उपाइ समाए ॥ कोटि ब्रह्मै जगु साजण आए ॥
ऐसो धणी गुबिंद हमारा ॥ बरनि न साकउ गुण बिसधारा ॥
कोटि माइआ जाकै सेवकाई ॥ कोटि जीझ जाकी सिरजाई ॥
कोटि अपार जना तेरे अंगि ॥ कोटि भगत बसत हरि संगि ॥

सन्त कबीर और गुरु नानक ने निर्गुण भक्ति का मार्ग अपनाया था। दोनों ने पण्डितों, पुरोहितों, योगियों, मुल्लाओं जैसे लोगों द्वारा प्रतिपादित पाखण्डों, कर्मकाण्डों और अन्धविश्वासों की आलोचना की थी। दोनों ने जाति-पाँत, ऊँच-नीच का खण्डन करते हुए नीची समझी जाने वाली जातियों को अपने गले से लगाया था। दोनों ने अपने समकालीन जीवन से गहरा तादात्म्य स्थापित किया था। उस समय लोग बड़े कातर भाव से प्रभु-भक्ति में लीन होने में ही जीवन की सार्थकता समझते थे। कबीर और गुरु नानक ने उन्हें जुझारू होने, उद्देश्य की प्राप्ति के लिए प्राणों का उत्सर्ग करने की प्रेरणा भी दी।

सन्त कबीर का एक पद है

गगन दमामा बाजिउ परिउ नीसानै घाउ ॥
खेत जु मांडिउ सूरमा, अब जूझन को दाउ ॥
सूरा सो पहचानिएँ, जु लरै दीन के हेत ॥
पुरजा-पुरजा कटि मरै कबहू न छाड़ै खेत ॥

इस पद की शब्दावली तत्कालीन सन्तों-भक्तों वाली नहीं है। यह वीर रस से परिपूर्ण है और रणभूमि में पुरजा-पुरजा कट मरने की बात करती है। कबीर दीन (निर्धन और पीड़ित) व्यक्ति के लिए लड़ने और जूझ मरने के लिए प्रेरित करते हैं।

इसी प्रकार का एक पद गुरु नानक का भी है। यह पद भी सिर को हथेली पर रखकर आगे बढ़ने का आह्वान करता है। मार्ग पर आगे बढ़ने में सिर देने और उफ भी न करने की बात करता है

जउ तउ प्रेम खेलन का चाउ ॥
सिर धर तली गली मेरी आउ ॥
इतु मारग पैर धरीजै ॥
सिर दीजै काणि न कीजै ॥

अपने सांसारिक कष्टों, अभावों, संकटों, अपमानों और शोषण के प्रति दीनता भरे भाव से परमात्मा की शरण में आना एक दृष्टि है, जो उस युग के अधिकांश सन्तों-भक्तों में दिखाई देती है। उसी के समानान्तर इन व्याधियों का मुकाबला करने

के लिए सूरमा बनना, युद्ध भूमि में आना, पुरजा-पुरजा कट मरने का संकल्प लेना, सिर को हथेली पर रखना, किसी महत् उद्देश्य के लिए उसे कटवा देना, पर उफ भी न करना एक और दृष्टि है।

इस पूरी पृष्ठभूमि पर विचार करते समय एक बात की ओर ध्यान जाता है। शौर्य और आत्मोत्सर्ग की जो बात सन्त कबीर जी ने कही, वह उनकी परम्परा में आगे नहीं बढ़ी। उनके द्वारा प्रवर्तित मार्ग उनके पश्चात् भक्ति मार्ग का एक पन्थ बनकर रह गया।

दूसरी ओर गुरु नानक ने 'सिर दीजै काणि न कीजै' वाले जिस मार्ग का प्रवर्तन किया था वह उनके पश्चात् निरन्तर पुष्ट होता गया। गुरु नानक के सौ वर्ष बाद पाँचवें गुरुगुरु अर्जुन देव ने महत् उद्देश्य के लिए अपने प्राण दिए थे यह कहते हुए

सो सूरा तिन ही होई मरणा ।
जो भागे तिसु जोनी फिरणा ॥

गुरु अर्जुन देव के समय सिर देने के संकल्प ने मूर्तरूप ले लिया। फिर इस प्रकार के संघर्ष और बलिदानों की लम्बी परम्परा विकसित हो गई।

शिव-शक्ति, राम-हनुमान

श्रीराम परिहार*

यह सृष्टि बहुत सुन्दर और मोहक है। अग्नि-अम्बर के बीच का दृश्यमान जगत सच्चा-सच्चा वास्तविक-सा अनुभव होता है। स्वर्णिम विहान की वेला में आँखों का प्रकाश जहाँ तक फैलता है, अभिलाषाएँ नृत्य करती-सी लगती हैं। कल्पना की आँखें और दूर तक जाती हैं; बहुत दूर तक देखती हैं; सौ-सौ स्वप्न जाग उठते हैं। हमारे देखने की और स्वप्न-बुनने की भी एक सीमा है। उस सीमा के पार भी देखने लायक और जानने लायक बहुत कुछ शेष है। जिसे ब्रह्माण्ड कहा जाता है, वह कितना विराट किन्तु कितना अद्भुत है। सूर्य, चन्द्र, सविता, सोम, ग्रह, नक्षत्र भरा ब्रह्माण्ड बड़ा रहस्यमय है। धरती या धरती के गर्भ की विस्तार-गहराई को ही ठीक-ठाक कहाँ जाना-समझा जा सका है। अग्नि-सोम अहोरात्र जहाँ सृजन-यज्ञ में रत होकर ऋत् को उत्पन्न कर रहे हैं और ऋत् में अवस्थित भी हो रहे हैं। असंख्य जीव-सृष्टि कहाँ से आकर कहाँ चली जा रही है। निखिल सृष्टि में ही स्थित हमारी पृथ्वी भी है। सुन्दर सन्तरे के समान रसभरी हमारी पृथ्वी।

बुद्धि अकुलाहट से भरा प्रश्न करती है इस दुःखों और संघर्षों से भरी सृष्टि के निर्माण के कारण-कार्य का वास्तव क्या है? जिसमें 'धिक जीवन को जो पाता ही आया विरोध' की स्थिति पैदा होती रहती है। हृदय करुणा-कलित अधीर होकर पूछता है यह किसकी करुणा कण-कण में पत्र-पत्र पर ज्योतित हो रही है? यह कौन 'मातः दशभुजा, विश्व-ज्योति' दसों दिशाओं में स्थित-उपस्थित हो रही है? बुद्धि और हृदय दोनों सम आसन पर बैठकर संचित त्रिकुटी पर ध्यानस्थ होकर स्मितिहास के साथ प्रश्नाकुल होते हैं यह किसका आनन्दमय लीलाभाव अखिल सृष्टि में क्षण-क्षण गतिमान हो रहा है? आनन्द का स्रोत कौन है? कौन अपने आनन्द के लिए स्वयं का आनन्दमय विस्तार करता है? प्रज्ञा के पंख नभ की नीलिमा में विलीन हो जाना चाहते

* डॉ. श्रीराम परिहार, प्राचार्य, माखनलाल चतुर्वेदी शासकीय स्नातकोत्तर कन्या महाविद्यालय, खण्डवा, सम्पर्क : आजाद नगर, खण्डवा-450001 (मध्य प्रदेश)

हैं। वह खोजना चाहती हैनाद से उत्पन्न बिन्दु को। वह जानना चाहती हैअक्षर महेश्वर को। वह समझना चाहती हैतम के पार भास्वर सत्य को। वह पाना चाहती है'सत्य, सच्चिदानन्द रूप, विश्वास धाम को।'

क्या सम्बोधन दें उसे? ॐ, प्रणव, ब्रह्म, शिव आदि-आदि कह देने से भी मन नहीं भरता। ॐ से शिव तक चिद् शक्ति का विलास है या शिव ही अनादि है। ॐ से भी पहले और परे यह चिद् शक्ति किस रूप-स्वरूप में रहती है; बिन्दु अनभै के कैसेकुछ ठोस कहा जा सकता है? 'न सन्न चासच्छिव एव केवलः'। इस वेदवाक्य का अर्थ है कि सृष्टि के पूर्व न सत् ही था और न असत्। केवल शिव था। ब्रह्म का वर्णन करते हुए वेद कहता है'ये भूत जिससे पैदा होते हैं, जन्म पाकर जिसके कारण जीवित रहते हैं, नष्ट होकर जिसमें प्रविष्ट हो जाते हैं, वही जिज्ञासा के योग्य है और वही ब्रह्म है'

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति;

यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व, तद् ब्रह्म।

श्रुति कहती है कि सृष्टि के पूर्व काल में सत् और असत् दोनों ही नहीं थे, केवल शिव था। सत् चेतन वस्तु को कहते हैं और असत् जड़ को कहते हैं। इस संसार में दो ही तरह की वस्तुएँ हैंचेतन और अचेतन। ये दोनों अस्तित्व में नहीं थे, तब शिव ही था। अस्तु सद्-असद् की उत्पत्ति के पूर्व शिव था। तब शिव ही जगत की उत्पत्ति का कारण होना चाहिए। सत् उसको कहते हैं, जो सदा रहता है। असत् उसको कहते हैं, जो परिणाम के कारण नाना कालों में नाना रूप धारण करता है। चेतन अपरिणामी होने से सदा एक रूप है। वह सत् कहलाता है। अचेतन परिणामी होने से नाना रूप है। वह असत् कहा जाता है। जिस समय ये दोनों नहीं होते, वही सृष्टि-पूर्व का काल है। उस समय जो सत्ता रहती है, वही सृष्टि का कारण है। 'सन्न चासत्'। इस काल में केवल शिव की सत्ता ही रहती है। अतः वही सृष्टि का कारण है। वेदान्त ब्रह्म को जगत का कारण बताते हैं। 'शिव' शब्द शुभतम या श्रेयस्कर वस्तु का वाचक है। ब्रह्म सर्व शुभकारी या सर्व श्रेयस्कारी है। अतः 'शिव' शब्द ब्रह्मवाचक भी है। ब्रह्म ही शिव है। इस तरह शिव को सृष्टि की उत्पत्ति का कारक मानने वाली मान्यता की संगति हो जाती है।

अनादि-अज-अक्षर ब्रह्म के तीन रूप माने गए हैं'एका मूर्तिस्त्रयो देवा ब्रह्माविष्णुमहेश्वराः'। ब्रह्मा, विष्णु और शिव एक ही हैं। एक ही अक्षर पुरुष के तीन स्वरूप हैं। एक ही शक्ति के तीन रूपान्तरण हैं। एक ही बिन्दु पर तीनों शक्तियाँ रहती हैं; किन्तु कार्यवश स्वरूप भेद और स्थान भेद होता रहता है। चेतन जगत में इन शक्तियों का स्थान भेद स्पष्ट है। चेतन प्राणियों में प्रतिष्ठा बल मध्य में, गति बल नीचे और अगति बल ऊपर रहते हैं। यथामनुष्य शरीर के अन्तर्गत हृदय-कमल में

ब्रह्मा का, नाभि में विष्णु का और मस्तक पर शिव का आसन या वास माना गया है। मनुष्य शरीर पार्थिव है। पृथ्वी से जो प्राण मानव शरीर में आता है, वह शरीर के अधोभाग से ही आता है। अतः आदान शक्ति के अधिष्ठाता विष्णु की स्थिति नाभि में ही कही गई है। उक्तमण उससे विपरीत अर्थात् ऊर्ध्व दिशा में होना सिद्ध है। महेश्वर की स्थिति शरीर के शिरोभाग में मानी जाती है। सम्पूर्ण शरीर की प्रतिष्ठा और अस्तित्व हृदय से है। हृदय में ही एक प्रकार की स्फुरणशील तिलमात्र ज्योति अवस्थित रहती है। वहीं से सम्पूर्ण शरीर को चेतना मिलती है। अतः ब्रह्मा का आसन-स्थान हृदय है। सन्ध्योपासना में इन्हीं स्थानों में इन तीनों देवताओं का ध्यान होता है। 'राम की शक्ति पूजा' में युद्ध से लौटकर वानर-भालू वीर 'सन्ध्या-वन्दन विधान' करने सरोवर तट पर जाते हैं। शिव की स्थिति मस्तक पर है यह श्री दुर्गा की त्वरित उदित छवि में 'निराला' संकेत करते हैं

हैं दक्षिण में लक्ष्मी, सरस्वती वाम भाग,
दक्षिण गणेश, कार्तिक बाएँ रण-रंग-राग,
मस्तक पर शंकर। पद पद्मों पर श्रद्धाभर
श्रीराघव हुए प्रणत मन्द-स्तर-वन्दन कर।

शतपथब्राह्मण (5,6/3/1/10) में अग्नि को रूद्र कहा गया है 'अग्निर्वै रूद्रः।' अग्नि का रूप रूद्र है। इसके दो रूप हैं एक घोर, दूसरा शिव। अग्नि का जो रूप उपद्रावक, रोगप्रद, विध्वंसक है, उसे 'घोररूद्र' कहते हैं और जो लाभप्रद, रोगनिवारक, रक्षक है वह 'शिव' रूप है। 'घोररूद्र' से दूर रहने, बचने की चेष्टा की जाती है। 'शिवरूद्र' की उपासना की जाती है। अग्नि में जितना 'सोम-सम्बन्ध' है, वह सर्जनशक्ति का कल्याणक आधार है। रूद्र ग्यारह माने गए हैं। पार्थिव अग्नि ध्रुलोक वा स्वर्लोक अर्थात् सूर्यमण्डल तक व्याप्त है। उससे आगे ऊपर सोममण्डल है। अग्नि की गति ऊपर को और सोम की गति ऊपर से नीचे की ओर रहती है। अग्नि को 'शिव' और सोम को 'शक्ति' कहते हैं। 'सोम' शब्द उमा से ही बना है। 'उमया सहितः सोमः।' इसमें शक्ति 'उमा' है। शक्तिमान 'शिव' है। यह तत्त्व वृहद्जाबालोपनिषद्ब्राह्मण 2 में इस तरह आया है

अग्निषोमात्मकं विश्वमित्यग्निराचक्षते।
रौद्री घोरा या तैजसी तनूः।
सोमः शक्त्यमृतयमः शक्तिकरी तनूः।

'इस चराचर जगत के आत्मा अग्नि और सोम हैं। घोर या तेजस रूप रूद्र का शरीर है। अमृतमय शक्तिदायक सोम शक्ति रूप है।' अर्थात् 'घोरअग्नि' शिव रूप है। 'सोमअग्नि' शक्ति रूप है। विद्या-कला आदि में अमृतमय सोम रूप शक्ति ही विद्यमान रहती है। स्थूल-सूक्ष्म सर्वत्र सृष्टि में अमृतमय रस (सोम) और तेज (अग्नि)

व्याप्त है। अग्नि ऊर्ध्वशक्तिमय होकर सोमरूप हो जाती है और सोम अधःशक्तिमय होकर अग्नि रूप बन जाता है। इन दोनों के सम्पुट में यह विश्व अपनी संज्ञा पाता रहता है। ऊपर जाती हुई अग्नि अपनी आधार शक्ति सोम से पाती है और नीचे आता हुआ सोम शिव की ही शक्ति कहाता है। बिना शिव के आधार के वह भी नहीं रह सकता। शिव शक्तिमय हैं और शक्ति शिवमय। शिव और शक्ति जहाँ न हों, सृष्टि का ऐसा कोई कोना नहीं है।

अग्नि से सोम और सोम से अग्नि ऊर्जस्वित होते हैं; अतः दोनों एक ही तत्त्व हैं। शिव और शक्ति अभेद हैं। अर्धनारीश्वर रूप शिव का यह प्रकट करता है कि शिव और पार्वती मिलकर एक अंग हैं। उमा शिव की अर्धांगिनी हैं। अग्नि पुरुष और सोम स्त्री माना गया है। लोकक्रम में सोम ऊपर रहता है, इससे शिव के वक्षस्थल पर खड़ी हुई शक्ति की उपासना होती है। शिव ज्ञान स्वरूप और तेज स्वरूप हैं और शक्ति क्रिया या बल स्वरूप है। यह इच्छा का परिणाम है। क्रिया या बल ज्ञान या तेज के बल पर ही खड़ा रह सकता है। इसलिए भगवती शिव के वक्षस्थल पर चरण धारे हुए है। ज्ञान-इच्छा-कर्म की युति में ज्ञान की इच्छा तब ही सर्जनाकार धारण करती है, जब क्रिया की जाती है। बिना क्रिया के ज्ञान स्फूर्त नहीं हो सकता। वह 'शव' है। शक्ति की क्रियमाणता ही 'शव' को शिव बनाती है। शिव विश्वरूप-विराटस्वरूप है। उस पर चिद्रूप-परमाप्रकृति शक्तिरूपा भगवती खड़ी है। शिव का 'विश्व' रूप 'ब्रह्म सत्य' कहलाता है। यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड ईश्वर का शरीर माना जाता है। मुण्डोपनिषद् (2/1/4) कहती है 'अग्नि जिसका मस्तक है। चन्द्रमा सूर्य दोनों नेत्र हैं। दिशाएँ स्तोत्र हैं। वेद वाणी है। विश्वव्यापी वायु प्राण रूप में हृदय में है। पृथ्वी पादरूप है। यह सब भूतों का अन्तरात्मा है।' 'निराला' कहते हैं 'अम्बर में हुए दिगम्बर अर्चित शशिशेखर।'

राम विष्णु के अवतार हैं। वे धर्म रूप हैं। राम का रूप धर्म-विग्रह ही है। धर्म की स्थापना और मर्यादाय लीला के लिए विष्णु का रामावतार त्रेता युग में होता है। ब्रह्मा, विष्णु, शिव एक ही अक्षरमहेश्वर की भिन्न-भिन्न कला-संज्ञाएँ हैं। ब्रह्मा, विष्णु और शिव तीनों अक्षर कलाओं की सृष्टि 'महेश्वर' ही है। उत्पत्ति, स्थिति और लय की समष्टि-क्रियाएँ एक ही तत्त्व की तीन अलग-अलग नाम-रूप कलाएँ करती हैं। हैं ये तीनों एक और अभेद। परमशक्ति जब मायारूप से असीम को सीम कर लेती है, तब अव्यय पुरुष का प्राकट्य होता है। अव्यय पुरुष की पाँच कोष-कलाएँ हैं वाक्, प्राण, मन, विज्ञान और आनन्द। विष्णु अपनी इच्छाशक्ति से इन पाँचों कोषों के साथ बारह कलाओं से युक्त होकर राम के रूप में प्रकट होते हैं और अपनी मर्यादा गाथा के माध्यम से 'नैसर्गिक ऋत्' को स्थापित करते हैं। अतः राम विष्णु के अंश हैं। विष्णु और शिव एक अखण्ड-अव्यक्त सत्ता की ही पृथक्-पृथक् क्रियात्मक शक्तियाँ हैं। अतः प्रकारान्तर से राम और शिव भी एक ही अक्षर पुरुष के दो

लीलावपु हैं। 'हरि' और 'हर' दोनों शब्द एक ही 'ह' धातु से उत्पन्न हैं। अतः दोनों की मूल धातु (प्रकृति) एक है। केवल प्रत्यय अलग-अलग है। 'शिवस्य हृदयं विष्णुर्विष्णोस्तु हृदयं शिवः।' दोनों एक-दूसरे के पूजक-पूज्य हैं। गोस्वामी तुलसीदास लिखते हैं

शिव बैरी मम दास कहावा, सो नर सपनेहुँ मोहि न भावा ।

शंकर प्रिय, मम द्रोही, शिव द्रोही मम दास ।

सो नर करहिँ कल्प भरि, घोर नरक महुँ वास ॥

x x x x

मंगल भवन अमंगल हारी, उमा सहित जेहि जपत पुरारी ।

राम भानुकुल भूषण हैं। वे सूर्य वंश के वंशज हैं। सूर्य 'ऋत्' का देवता है। 'ऋत्' प्रकृति का अनुशासन भी है और धर्म भी है। ऋत् के अधीन जब मनुष्य और मनुष्य समाज आचरण करता है, तब वह 'धर्म' का स्वरूप ले लेता है। इस प्रकार 'राम' एक ओर 'नैसर्गिक ऋत्' से सम्पर्कित हैं और दूसरी ओर मनाव समाज आचरित धर्म के संस्थापक भी हैं। राम एक ओर परात्पर ब्रह्म भी हैं और दशरथ-सुत भी हैं। 'सीता' आदिशक्ति जग-जननी भी हैं और वे जानकी तथा राम की भार्या भी हैं। 'जनक-सुता जग जननि जानकी, अतिशय प्रिय करुणानिधान की।' 'राम की शक्तिपूजा' में राम प्रिया सीता के उद्धार के लिए पुरुषार्थ करते हैं। राम का पुरुषार्थी और प्रिया उद्धारक मन कभी हारा नहीं। कभी थका नहीं। 'जानकी! हाय उद्धार प्रिया का न हो सका! वह एक और मन रहा राम का जो न थका। जो नहीं जानता दैन्य, नहीं जानता विनय, कर गया भेद वह मायावरण प्राप्त कर जय।' शक्ति की 'मौलिक कल्पना' और 'आराधन का दृढ़ आराधन से उत्तर' देने का यह पुरुषार्थ का सात्विक रूप है। राम अपने सौन्दर्य और शील से शक्ति का आवाहन कर धर्म की सम्पूर्णता और मानव की मर्यादा की विभूति बन जाते हैं।

अंजनी-सुत हनुमान राम के परम भक्त हैं। पवनपुत्र का सत्संगी रूप बड़ा मनभावन है। वे कनक भूधराकार भी हैं। वे अतुलित बलधाम, हेमशैलाभदेहं, दनुजवनकृशानं ज्ञानिनामं अग्रगण्यम् हैं। वे सकल गुण निधानं, वानरयूथं मुख्यम् हैं। रघुपति के प्रिय भक्त हैं। दो ध्रुवीय वहिन धक-धक कर प्रकट होती है। परम पराक्रम और प्रशान्त शान्ति एक ही जीवन-वपु में संचारित-समाहित है। राम भक्त हनुमान एकादश रूद्र माने जाते हैं। शिव से ही अग्नि और सोम की उत्पत्ति है। अग्नि ही रूद्र है। अग्नि की तीन अवस्थाएँ होती हैं-अग्नि, वायु और आदित्य। अग्नि के सहचर आठ वसु हैं। वायु के सहचर 'एकादश रूद्र' हैं। आदित्य के सहचर 'द्वादश आदित्य' हैं। अतः अग्नि आठ रूपों में, वायु ग्यारह रूपों में और आदित्य बारह रूपों में सृष्टि में व्याप्त है। 'सोम' की भी तीन अवस्थाएँ हैं-सूक्ष्म दशा में 'सोम', किंचित घन होने

पर 'वायु' और अधिक घन होने पर 'अप' कहा जाता है। सूर्य से ऊपर का परमेष्ठिमण्डल 'अपलोक' कहलाता है। अग्नि की अवस्था का वायु 'आग्नेय वायु' और सोम की अवस्था का वायु 'सोमवायु' कहा जाता है। पृथ्वी और सूर्य के मध्य में जो अन्तरिक्ष है, उसमें आग्नेय वायु प्रसरणशील रहता है। सूर्य से ऊपर परमेष्ठिमण्डल तक 'सौम्य वायु' का प्रसार है। यही आग्नेय वायु भौतिक वायु और भौतिक अग्नि को उत्पन्न करता है। श्रुति में कहा गया है 'मरुतो रूद्रपुत्रासः।' मरुत रूद्र के पुत्र हैं।

राम शिव के आराध्य हैं। शिव निरन्तर राम को जपते हैं। हनुमान एकादश रूद्र हैं। शिव से अग्नि, अग्नि से रूद्र, रूद्र से मरुत, मरुत से हनुमान का सम्बन्ध है। आग्नेय वायु या अग्नि रूद्र या घोर रूद्र का निवास अन्तरिक्ष में है। राम के नेत्रों से आँसू टपके और वे आँसू (युग) 'अस्ति-नास्ति' के एक रूप-गुण-गण अनिन्द्य युगल चरणों पर गिरे। उन्हें देख पवनपुत्र का 'आग्नेयवायु' रूप साकार हो उठा। शिव अपने आराध्य को संकट में नहीं पा सकते। मारुतसुत शिव का ही एकादश अंश हैं। वे अपने पिता पक्ष से उनचास पवन का सहचर पाकर रूद्र से रौद्र रूप में दिग्विजयार्थ प्रतिपल सक्षम और समर्थ बढ़ते जाते हैं। 'वज्रांग तेजघन बना पवन को, महाकाश पहुँचा, एकादश रूद्र क्षुब्ध कर अट्टहास।' शिव देवी को मन्द्रस्वर में सचेत करते हैं। बात और खुलती है। सत्य और साफ-साफ उजागर होता है कि यह वानर नहीं है, यह अपना ही तेज है। 'सम्बरो देवी, निज तेज, नहीं वानर यह।' देवी भागवती से शिव अद्भुत बात कहते हैं-यह राम की अर्चना ही मूर्तिमान अक्षय-शरीर रूप महाकाश हो गई है। शिव-शक्ति, राम-हनुमान ज्योतिर्मय महानिलय के मध्य शतशीर्षा, सहस्राक्ष, शतेषुधि रूप में स्थित हैं। शिव रघुनन्दन-कूजित महावीर के शत-वायु-वेग-बल को अनुमान कर वास्तविक मूल स्वरूप स्फुरित कर देते हैं

चिर ब्रह्मचर्य-रत ये एकादश रूद्र, धन्य,

मर्यादापुरुषोत्तम के सर्वोत्तम, अनन्य ।

इतना कुछ कहने के बाद भी उस अक्षर महेश्वर के चारों रूपों-शिव-शक्ति, राम-हनुमान के रूप-गुण का वर्णन पार्थिव जिह्वा और मोह विजड़ित बुद्धि से कैसे किया जा सकता है। जिसे वेदों में 'नेति-नेति' कहा गया है; उसे 'वह ऐसा ही है', 'वह ऐसा ही है'; यह कैसे कहा जा सकता है। अतः यही विनय है

आवाहनं न जानामि, नैव जानामि पूजनम् ।

विसर्जनं न जानामि, क्षम्यतां परमेश्वर ॥

सामंजस्य और सौमनस्य की साधना विफल क्यों?

शत्रुघ्न प्रसाद*

भारत की त्रिवेणी संगम संस्कृति भारतीय समन्वय-साधन की विश्वचर्चित विशिष्ट देन है। इसकी परिणति है भारत की सांस्कृतिक एकसूत्रता। त्रिवेणी संगम संस्कृति का अर्थ है वैदिक + श्रमण + जनजातीय (लोक) संस्कृति की पुराकालीन समन्वित संस्कृति। सामान्य अर्थ में त्रिवेणी सरस्वती + गंगा + यमुना का संगम है। इस समन्वयन ने ही एक ओर आसेतु हिमाचल की विभिन्न स्थानीय संस्कृतियों को वैदिक-पौराणिक संस्कृति से जोड़ दिया तो दूसरी ओर सैकड़ों जातियों-जनजातियों को एक ही समान जीवन में ला दिया। शस्त्र और लोकाचार ने मिलकर सम्पूर्ण जीवन को संस्कारित करते हुए उत्सवमय-आनन्दमय बना दिया। भारत की धरती, पर्वत, नदियाँ, वनस्पतियाँ, पशु-पक्षी तथा विभिन्न क्षेत्रों के जनसमूहों की मान्यताएँ एक साथ जुड़कर प्रकृति माँ के प्रांगण में समाज, संस्कृति, राष्ट्रीयता, दर्शन-धर्म, साहित्य एवं कला की रचना में सफल हो गई। अथर्ववेद का पृथ्वीसूक्त प्रमाण है।

आठवीं-दसवीं सदी ने पश्चिमी एशिया से एक नए मजहब को बड़े जोश के साथ भारत में प्रवेश करते देखा। उसके सूफी फकीरों का भारत ने स्वागत किया, क्योंकि भारत में चिन्तन और उपासना की स्वतन्त्रता रही है। पर नए मजहबी आक्रमणकारियों से भारत निरन्तर जूझता रहा। ईसा की बारहवीं-तेरहवीं सदी से ये आक्रमणकारी अरब, तुर्क, अफगान और मुगल क्रम से फतह पाकर भारत पर शासन करने लगे। एक ओर विभिन्न क्षेत्रों में इनसे संघर्ष चलता रहा तो दूसरी ओर दर्शन, धर्म, संस्कृति, पर्वोत्सव, समाज-जीवन, भाषा, साहित्य एवं कला-जीवन के सभी क्षेत्रों में अरब + तुर्क + ईरानीबाहरी तत्त्वों से द्वन्द्व होने लगा। इस विषम स्थिति में भारत ने भारतीय धर्म-संस्कृति तथा अरब + तुर्क + ईरानी की बाहरी तहजीब, दर्शन तथा मजहब से सामंजस्य और सौमनस्य के लिए प्रयास आरम्भ कर दिया। तेरहवीं सदी से

डॉ. शत्रुघ्न प्रसाद, B-13, Tribhuwan Binayak Residency, In Front Of Shri Ram Apts, Buddha Colony, Patna-800001, Mo. 09431685504

लेकर बीसवीं सदी तक यह प्रयास चलता रहा है। सामंजस्य का यह दीर्घकालीन प्रयास साधना के स्तर पर होता रहा है। कारण स्पष्ट है कि भारत ने 'सर्व धर्म समभाव' और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के मानवीय चिन्तन को हृदय से मान्यता दी है। परन्तु प्रश्न है कि भारत की यह साधना कितनी सफल हुई? यह गम्भीरता से विचारणीय है।

तेरहवीं सदी में भारत में तुर्क शासन स्थापित हो गया था। दिल्ली में तुर्क शासक तख्तनशीन होकर सम्पूर्ण भारत पर फतह पाने के लिए युद्ध कर रहे थे। इसी स्थिति में एक ओर अजमेर में प्रतिष्ठित सूफी सन्त तुर्क शासकसुल्तान को आशीर्वाद के साथ मार्गदर्शन दे रहे थे तो दूसरी तरफ ईरान से आए सूफी फकीर सीदी मौला नाथपंथी रावलपीर के साथ मिलकर भारतीय दर्शन एवं धर्म के साथ इस्लाम के सूफी दर्शन, प्रेमपरक उपासना तथा जनसेवा के माध्यम से सामंजस्य बैठाने की कोशिश करने लगे। सीदी मौला तुर्क सुल्तान बलवन के वक्त मन्दिरों के विध्वंस पर असहमति प्रकट करने लगे। डॉ. शिव प्रसाद सिंह के महाकाव्यात्मक उपन्यास 'दिल्ली दूर है' में इस सांस्कृतिक साधना का विस्तार से वर्णन हुआ है। लेकिन सुल्तान बलवन ने सूफी सीदी मौला को दिल्ली स्थित 'कुव्वत-ए-इस्लाम मस्जिद के प्रति असहमति प्रकट करने की वजह से प्राणदंड दे दिया था। उपन्यास का नायक आनन्द बाशेक भी रजिया बेगम की कट्टरता-क्रूरता को देख सामंजस्य-सौमनस्य के प्रति निराश हो गया था।

पन्द्रहवीं सदी में रामभक्ति के आचार्य श्री रामानन्द जी ने एक पीढ़ी पहले धर्मान्तरित जुलाहा कबीर को रामभक्ति की मन्त्रदीक्षा दी थी। कबीर ने काशी में अद्वैत दर्शन को भी समझने का प्रयत्न किया था, आत्मा-परमात्मा और आत्मा-आत्मा (मानव-मानव) के अभेद को आत्मसात् कर लिया था। सन्त कबीर ने निर्गुण राम की भक्ति के द्वारा सम्पूर्ण समाज को भी आस्था एवं अस्मिता का सन्देश दिया। उन्होंने ईश्वर और अल्लाह को दो नहीं माना। इसीलिए उन्होंने हिन्दू और मुसलमान को दो मानने से इनकार किया। दोनों को इस चिन्तन के आधार पर जोड़ने का प्रयत्न किया। साथ ही हिन्दू समाज के अन्दर उच्च वर्ण-निम्न वर्ण के अन्तर-विषमता को भी ठुकरा दिया। इस प्रकार सन्त कबीर ने प्रत्येक स्तर पर समतामूलक समरसता का प्रयत्न किया। और दोनों समाजों की अमानवीय रूढ़ियों की भी आलोचना की। फलतः मुल्लाओं द्वारा कबीर गुनहगार-काफिर घोषित हो गए। सुल्तान सिकन्दरशाह लोदी ने मुल्लाओं को खुश करने के लिए सन्त कबीर को दण्ड देने का ऐलान कर दिया। उन्हें गंगा में फेंक दिया गया। योग-भक्ति साधना तथा जन-सहयोग से वे बच गए। जनाक्रोश के कारण सुल्तान को काशी से हट जाना पड़ा था। इस प्रकार पन्द्रहवीं से अठारहवीं सदी तक के निर्गुण सन्तों ने सामंजस्य तथा सौमनस्य के प्रयत्न किए। 'सुनो भाई साधो' नामक उपन्यास में सन्त कबीर की इस साधना का मार्मिक वर्णन हुआ है।

भारत में सगुण भक्ति धारा के साथ निर्गुण भक्ति धारा साथ-साथ प्रवाहित होती रही, पर तौहीद-एकेश्वरवाद के अनुयायी अरबोईरानी तहजीब-तमधुन के साथ मुख्यधारा से अलग-थलग रहे। शासन का राजमद था ही।

महाराष्ट्र के निर्गुण भक्तिसाधक नामदेव पंजाब पहुँच गए। वहाँ निर्गुण भक्ति का अलख जगाया। वहीं गुरुनानक देव ने निर्गुण भक्ति के साथ अपना त्याग-तपोमय जीवन को प्रस्तुत किया। उन्होंने भी हिन्दू-मुसलमानदोनों को अपनाया। उनके साथ एक संगीतज्ञ मरदाना नामक मुसलमान जीवन-भर साथ रहा। स्वयं गुरुनानक देव ने पश्चिम के मुस्लिम देशों में जाकर भारतीय दर्शनअद्वैत तथा भक्ति के साथ इस्लामी दर्शन पर चर्चा की। विचार-विमर्श किया। डॉ. महीप सिंह ने अपनी पुस्तक में इस प्रसंग का वर्णन किया है। परन्तु दुःख एवं क्षोभ का विषय है कि मुगल शासक जहाँगीर ने सिखों के पाँचवें गुरु अर्जुन देव की भक्ति तथा गुरु ग्रन्थ के सम्पादन तथा लोकप्रियता से घबड़ाकर उनका दमन करना चाहा। अन्त में गुरु अर्जुन देव की शहादत हुई। उन्हें अपने धर्म के लिए बलिदान देना पड़ा। इनके बाद छठे गुरु गुरु हरगोविन्द को रक्षा के लिए खड्ग धारण करना पड़ा। इन्हें भी विद्रोही समझकर बन्दी होना पड़ा। औरंगजेब के समय में गुरु तेग बहादुर तथा गुरु गोविन्दसिंह के दो पुत्रों को शहादत देनी पड़ी। अतः गुरु गोविन्दराय ने सिंह उपाधि धारण कर शिष्यों-सिक्खों को सशस्त्र कर दिया। मुगल औरंगजेब की कट्टरता-क्रूरता से टकराव चलता रहा। गुरु गोविन्द सिंह के बाद बन्दा बैरागी ने संघर्ष किया। पराजय के बाद बन्दी बने बन्दा बैरागी की निर्मम-नृशंस हत्या की गई।

प्रश्न उठता है कि भक्तिमार्ग के सन्तों को सशस्त्र क्यों होना पड़ा? गुरु गोविन्द सिंह के चारों पुत्रों का बलिदान क्यों हुआ? इस स्थायी टकरावभारतीय मूलधारा और विदेशी तुर्क-मुगल की एकेश्वरवादी धारा में क्यों हुआ? अरबो-ईरानी मजहब में इतनी असहिष्णुता और कट्टरता क्यों है? भारतीय मिट्टी के लोग धर्म बदलनेनए मजहब को अपनाने के बाद उन्हीं के समान कट्टर, असहिष्णु तथा क्रूर बन जाते हैं? क्यों अपने पुरखों, अपनी परम्पराओं तथा अपने खून को क्यों भूल जाते हैं?

इस सत्रहवीं सदी में औरंगजेब के बड़े भाई दाराशिकोह तथा पण्डित राज जगन्नाथ ने मिलकर सूफ़ी अद्वैत तथा भारतीय अद्वैत चिन्तन के संगम का महान प्रयत्न किया। ग्रन्थ का लेखन हुआमज्ज-उल-बहरेन अर्थात् समुद्र संगम। साथ ही उपनिषदों का अनुवाद हुआ। दर्शन, धर्म, संस्कृति, समाज और राजनीतिइन सभी स्तरों पर समन्वयन का प्रयत्न हुआ। डॉ. भोलाशंकर व्यास ने अपने उपन्यास 'समुद्र संगम' तथा श्री मेवाराम ने अपने वृहत् उपन्यास 'दाराशिकोह' में इन दो धाराओं के मिलन की पूरी कोशिश को दिखाया है। परन्तु दाराशिकोह के साथ पण्डित राज जगन्नाथ तथा जहाँनारा बेगम थीं। उधर औरंगजेब के साथ रोशनआरा बेगम तथा मुल्ला थे। इन दो वर्गों का टकराव चला। इन दो उपन्यासकारों ने इस टकराव को

दिखाया है। परन्तु दुर्भाग्य से दाराशिकोह की युद्ध में हार हो गई। काफिर घोषित कर उसकी हत्या की गई। दिल्ली हाहाकर कर उठी थी। इसीलिए तो डॉ. राम विलास शर्मा ने 'दाराशिकोह' नामक कविता में दारा की हार और कट्टर-क्रूर औरंगजेब की जीत को प्रस्तुत किया है। 'तारसप्तक' प्रथम में यह मार्मिक कविता संकलित है।

ये दोनों उपन्यास तथा यह एक कविताहमें बार-बार सोचने के लिए बाध्य कर देते हैं। भारत में अरबो-ईरानी शासकों की ऐसी कट्टरता और क्रूरता क्यों? भारतीय दर्शन, धर्म और उपासना के साथ सामंजस्य क्यों नहीं हो सका?

अठारहवीं सदी में मुगल शासन के कमजोर होते देख वहाबी आन्दोलन इस्लामी जम्हूरियत के जरिए निजामे मुस्तफा की बात सोचने लगा। अहमद शाह अब्दाली निमन्त्रित हुआ। पानीपत के तीसरे युद्ध में प्रबल मराठी सेना और अब्दाली में भीषण युद्ध हुआ। मराठे अपनी कमजोरियों के कारण हार गए। पर मुगल शासन ताकत हासिल नहीं कर सका। तीसरी ताकत के रूप में अंग्रेज-ईस्ट इण्डिया कम्पनी राजनीतिक दृष्टि से आगे बढ़ने लगी। वृन्दावन लाल वर्मा ने अपने उपन्यास 'माधव जी सिन्धिया' में इस यथार्थ को दिखाया है।

यह भी सही है कि सामंजस्य बढ़ने लगा। उदार तत्त्व भारत के मूल समाज के निकट आने लगे। आर्थिक-सांस्कृतिक जीवन में थोड़ी नजदीकी दिखाई पड़ी। पर कट्टर वहाबी आन्दोलन बढ़ रहा था। और मुल्लाओं आदिने फारसी के साथ आमोखास के लिए हिन्दी से अलग उर्दू जुबान को विकसित करना आरम्भ कर दिया।

उन्नीसवीं सदी में हिन्दू और मुसलमानदोनों अंग्रेजों के गुलाम हो गए। आर्थिक और सांस्कृतिकदोनों के आधार पर सबका दमन होने लगा। सारा देश सात समन्दर पार के फिरंगियों के शोषणपूर्ण-दमनपूर्ण शासन से क्षुब्ध हो उठा। सन् 1857 ई. का विद्रोह-संघर्ष विस्फोटित हुआ। सभी इसमें सम्मिलित हुए। हिन्दू राजे-महाराजे, जमींदार, सैनिक तथा जन सामान्य सभी ने स्वातंत्र्य संघर्ष का संघोष किया। मुस्लिम शाह, नवाब, जमींदार तथा मुल्ला भी सम्मिलित हुए। इनमें वहाबी तत्त्व भी अपनी हुकूमत की पुनःस्थापना के विचार से सक्रिय हुए। महारानी लक्ष्मीबाई, नाना साहब, कुँअर सिंह और बैसवाड़े के राजासभी ने देहली के लाल किले तक सीमित मुगल बादशाह बहादुर शाह 'जफर' को अपना प्रधान माना। जफर के नेतृत्व में यह स्वातन्त्र्य संघर्ष चला। परन्तु अंग्रेज, अपनी चतुर रणनीति, नए अस्त्र-शास्त्र, नई फौज और कुछ भारतीयों के कारण विजयी हो गए। अंग्रेजों का साम्राज्य कायम हो गया। वीर सावरकर, चतुरसेन शास्त्री तक वृन्दावन लाल वर्मा ने अपने-अपने ग्रन्थों तथा अपने उपन्यासों में इस युद्ध की पृष्ठभूमि के साथ स्वातन्त्र्य युद्ध को प्रस्तुत किया है।

अंग्रेजों ने इस जंग के मूल में मुस्लिमों को मुख्य दोषी मानासम्भवतः वहाबियों की मजहबी सियासत की वजह से। लेकिन सैयद अहमद ने प्रामाणिक तथा पूर्ण किताब लिखकर सिद्ध किया कि मुसलमान अपराधी नहीं हैं और उन्हें समझाने

में वे सफल हो गए। फलतः अंग्रेजों ने भारत पर शासन करने के लिए अंग्रेजी साम्राज्य तथा मुस्लिम सियासत की सन्धि गुप्त रूप से कर ली। सर सैयद अहमद इस दुरभिसन्धि के प्रस्तावक और प्रस्तोता बन गए। इसी दृष्टि से दोनों ने मिलकर अलीगढ़ को मुस्लिम समाज की तालीम और अलगाववादी सियासी मानसिकता का केन्द्र बना दिया।

सन् 1885 ई. में ए.ओ. ह्यूम नामक एक अंग्रेज ने 'इण्डियन नेशनल कांग्रेस' की स्थापना की जिससे शिक्षित भारतीय सन् '57 के समान विद्रोह-पथ पर नहीं बढ़ सकें। इधर सर सैयद अहमद ने भविष्य के भारत में आने वाले प्रजातन्त्र का अनुमान कर मुसलमानों को कांग्रेस में शामिल होने से रोका, क्योंकि भारत में संगठन में हिन्दुओं का बहुमत है और इण्डियन नेशनल कांग्रेस 1905 तक अंग्रेजी शासन की प्रशंसा के साथ कुछ निवेदन करने तक की गति से सन्तुष्ट रही। अंग्रेजी साम्राज्यवाद ने हिन्दू-मुस्लिम सामंजस्य तथा राष्ट्रभाव को तोड़ने के लिए पूर्वी बंगाल को शेष बंगाल से अलग कर दिया। पूर्वी बंगाल मुस्लिम बहुल रहा है। फलतः सारा बंगाल बंगभंग विरोधी आन्दोलन के पथ पर 'वन्दे मातरम्' के घोष के साथ आगे बढ़ा। इस भीषण आन्दोलन से अंग्रेज त्रस्त हो उठे। इसलिए 1906 ई. में अंग्रेजों के इशारे पर ढाका के नवाब की सदारत में मुस्लिम लीग की स्थापना हो गई। लाल-बाल-पाल-अरविन्द के उग्रराष्ट्रवादी रूप को देखकर बंगभंग समाप्त हुआ। राजधानी दिल्ली चली गई। इसके बाद ही कांग्रेस में परिवर्तन आया। कांग्रेस स्वाधीनता आन्दोलन का सामान्य मंच बनने लगी।

आश्चर्य का विषय है कि सन् 1857 के संघर्ष में हिन्दुओं ने बहादुर शाह 'जफर' को अपना नेता माना, पर बीसवीं सदी के स्वातन्त्र्य संग्राम में मुस्लिम अवाम ने लोकमान्य तिलक, महात्मा गाँधी, जवाहरलाल नेहरू और नेता जी सुभाष को अपना सर्वमान्य नेता नहीं माना, मौलाना अबुल कलाम आजाद और खान अबुल गफ्फार ख़ाँ को राष्ट्रीय नेता नहीं माना। उन्होंने सर मु. इकबाल और मु. अली जिन्ना को मुस्लिम लीग के मंच पर मान्यता दी। यह ऐतिहासिक तथ्य बार-बार सोचने को बाध्य करता है। ऐसा क्यों हुआ? लोकमान्य तिलक के बाद महात्मा गाँधी द्वारा आयोजित हिन्दू-मुस्लिम एकता पर आधारित अहिंसात्मक आन्दोलन-सत्याग्रह को मुस्लिम अवाम का सहयोग नहीं मिला। सर सैयद अहमद, सर मुहम्मद इकबाल और मु.अ. जिन्ना ने मुसलमानों के लिए मुस्लिम बहुल क्षेत्रों में मुस्लिम हुकूमत की माँग की। इकबाल और जिन्ना भारतीय नस्ल के मुस्लिम थे। इकबाल चार पीढ़ी के कश्मीरी ब्राह्मण थे। जिन्ना का परिवार मूलतः मुलतान व्यापारी-वैश्य था जो गुजरात में बस गया था। जिन्ना के पिता मु. फकीर के प्रभाव में थे। इसलिए उन्होंने कराची में आकर जिन्ना की सुन्नत कराई। जिन्ना सर्वथा नए मुसलमान थे। आरम्भ से कांग्रेस में थे। पर ये दोनों अपनी मिट्टी, अपने रक्त, अपने पुरखे आदि को भूल गए। अलगाववाद-आतंकवाद के

प्रस्तोता बन गए इधर महात्मा गाँधी आमरण हिन्दू-मुस्लिम एकता के साधक हो गए। कौन सफल हुआ? क्यों हुआ? विचारणीय है।

आज भी यही प्रश्न है कि महात्मा गाँधी की साधना क्यों विफल हुई? उनके परम शिष्य निर्भीक पत्रकार गणेश शंकर विद्यार्थी की क्यों हत्या हुईकानपुर में, स्वामी श्रद्धानन्द की हत्या क्यों हुईदिल्ली में? यदि लोकमान्य तिलक ने इसी एकता के लिए सन् 1916 में कांग्रेस-लीग का समझौता किया था। गाँधी जी ने इसी के लिए सन् 1921 में खिलाफत आन्दोलन करके मुसलमानों के खलीफा के अस्तित्व के लिए सत्याग्रह किया था। अंग्रेजों ने इस आन्दोलन को दबा दिया। और तब केरल के मोपलाओं ने अपने क्षेत्र के अल्पसंख्यक हिन्दुओं पर भीषण प्रहार-संहार करके गाँधी जी के आन्दोलन को विफल कर दिया। लीग की माँग बढ़ती गईअंग्रेजों की शह पर। सन् 1940 के मार्च में मु.अ. जिन्ना ने लीग के सम्मेलन में पाकिस्तान की माँग कर दी। साथ ही सन् 1942 के भारत छोड़ो आन्दोलन का विरोध किया। गाँधी जी जेल से छूटने के बाद सहयोग के बल पर स्वतन्त्रता के लिए जिन्ना के दरवाजे पर 1944 के सितम्बर-अक्टूबर में गए। मु.अ. जिन्ना ने गाँधी जी के अनुरोध-आग्रह को ठुकरा दिया। उन्हें तिरस्कृत किया।

गाँधी जी ने जिन्ना से कहा था "मजहब बदलने से राष्ट्रीयता नहीं बदलती। खून नहीं बदलता। पुरखे नहीं बदलते।" यह अलगाववाद गलत है। जिन्ना इसका जवाब नहीं दे सके।

मुस्लिम लीग ने पाकिस्तान की माँग पर बल देने के लिए कलकत्ता में 16 अगस्त, '46 को सीधी कार्रवाई कर दी, क्योंकि 1946 के जनवरी में हुए चुनाव में मुस्लिम लीग को मुस्लिम क्षेत्रों में सफलता मिल गई थी। नेताजी के अभियान का भी असर नहीं पड़ा था। इस अलगाववादी माँग और आतंकपूर्ण दंगों के दबाव में लार्ड माउण्ट बेटनएडविना की सलाह पर नेहरू जी ने देश-विभाजन के साथ स्वाधीनता को मान लिया। अंग्रेज साम्राज्यवाद + मुस्लिम लीग की दुरभिसन्धि को सी.पी.आई. के समर्थन से भारत को टूटने को बाध्य कर दिया। गाँधी जी विभाजन रोक नहीं सके। नेहरू का समर्थन करना पड़ा। क्रान्तिकारी आन्दोलन, गाँधी जी का आन्दोलन और नेताजी का अभियानसब उस दुरभिसन्धि के समक्ष कमजोर सिद्ध हुए। क्यों?

नेहरू जी ने महाराजा हरिसिंह द्वारा जम्मू-कश्मीर के भारत में विलयन के बाद शेख अब्दुल्ला को जम्मू-कश्मीर की पूर बागडोर सौंप दी। संविधान द्वारा 370 की धारा की असीम सुविधाएँ भी दे दीं। उधर शेख अब्दुल्ला भारत से स्वतन्त्र होने का ख्वाब देखने लगा। डॉ. श्यामा प्रसाद मुखर्जी को बलिदान देना पड़ा, तब नेहरू जी को शेख के अलगाववादी छद्म की जानकारी हो सकी। पर आज तो कश्मीर अलगाववाद-आतंकवाद का अड्डा बन चुका है। ऐसा क्यों?

इन्दिरा गाँधी ने बांग्ला देश के संघर्ष में पूर्ण सहयोग दिया। सारे देश ने साथ दिया। पूर्वी पाक के सारे हिन्दुओं का सहयोग मिला। पर उनका पहले की तरह आज भी दमन होता रहा है। वे आज भी बांग्ला देश में दयनीय-दमित अल्पसंख्यक हैं। क्यों? भारत का विरोध बांग्लादेश करता रहा। क्यों?

भारत ने बार-बार राम जन्मभूमि, कृष्ण जन्मभूमि तथा काशी विश्वनाथ के मन्दिर को पाने के लिए निवेदन किया, मुस्लिम समाज से अनुरोध किया, आग्रह किया। अन्त में एक रामजन्म भूमि मन्दिर की माँग पर सत्याग्रह किया। बाबरी ध्वस्त हुआ। पर आज तक रामजन्म भूमि स्थान नहीं मिला। राम तथा जन्मभूमि पर ही शक किया गया। प्रमाण मिलने पर भी हिन्दू अपने देश में राम मन्दिर के लिए तरस रहे हैं। और कश्मीर के चार लाख हिन्दू अल्पसंख्यक अपने ही देश में शरणार्थी बने हुए हैं। प्रश्न है क्यों?

मोहम्मद करीम छागला ने कहा था कि वे मजहब से मुसलमान हैं और कौम से हिन्दू हैं।...इस ऐतिहासिक और सांस्कृतिक सत्य को मुस्लिम मुल्ला तथा बुद्धिजीवी सबने छागला के कथन को ठुकरा दिया। वे काफिर करार कर दिए गए।

अभी-अभी गुजरात के मौलाना गुलाम मोहम्मद वस्तानवी, दारूल उलूम, देवबन्द के कुलपति नियुक्त हुए थे। उन्होंने गुजरात के विकास को स्वीकार किया। परिणाम यह हुआ कि मजलिस-ए-शूरा ने इस बयान को मुस्लिम विरोधी मानकर उन्हें इस पद से बर्खास्त कर दिया।

इस मजहबी कट्टरता, अलगाववाद और आतंकवाद की सफलता तथा राष्ट्रीयता की पराजय के मूल में क्या है?

गाँधी जी ने सन् 1944 में जिन्ना को ऐतिहासिक सत्य कहा था। छागला ने घोषणा की थी। वी.एस. नायपाल ने धर्मान्तरित देशों के सर्वेक्षण-भेंट के आधार पर बताया है कि मत-धर्म बदलने पर व्यक्ति समूह अपने सम्पूर्ण अतीत, पुरखे, खून, परम्परा को पूर्णतः भूलकर-दफनाकर अरबो-ईरानी रंग में रँग जाता है। यही कारण है।

दैनिक हिन्दुस्तान के 23 जुलाई, 11 के अंक में उपन्यासकार आतिश तासीर का एक लेख छपा है। पाक के लेखक के ये शब्द सब बता देते हैं—“हमें पाकिस्तान के मूल विचार की उस केन्द्रीय अवधारणा को देखना होगा, जो हर भारतीय चीज को नकारती है, उसकी संस्कृति को, उसके इतिहास को। 1930 में ऑल इण्डिया मुस्लिम लीग के एक जलसे की अपनी तकरीर में मु. इकबाल ने हिन्दुस्तान के मुसलमानों के लिए एक अलग मुल्क की बात की थी। इकबाल की इस सोच को अगस्त 1947 में आकार मिला। इसके साथ ही हिंसा शुरू हो गई और जल्दी ही यह साफ हो गया कि मुसलमानों के इस नए मुल्क में गैर-मुस्लिमों के लिए कोई जगह नहीं है। लाखों लोगों की मौत और इतिहास में आबादी के सबसे बड़े पलायन के बाद ही हिन्दुस्तान और पाकिस्तान अस्तित्व में आए।

पाकिस्तान के पास कोई सच्ची राष्ट्रीय पहचान नहीं है, इसलिए वह खुद को भारत के विरोधी के रूप में परिभाषित करता है। आजादी से पहले मुसलमानों और गैर-मुसलमानों के बीच जो साझा चीजें थीं, वह उन सबसे मुँह मोड़ लेता है। पहनावे से लेकर तीज-त्यौहार, शादियों के रीति-रिवाज और साहित्य तक हर चीज शक के दायरे में है। पाकिस्तान इस उपमहाद्वीप से जुड़ाव की अपनी सारी निशानियाँ मिटाने के काम में लगा है, क्योंकि कई लोगों को लगता है कि यह जुड़ाव ही जहर है।”

प्रसिद्ध चिन्तक-लेखक रांगेय राघव ने ‘महायात्रा गाथा’ के चौथे खण्ड के पृष्ठ 244 में (2009 संस्मरण) बताया है

1. इस्लाम के पुरोहित वर्ग किसी भी भारतीय भाषा को स्वीकृत नहीं करता था। इस कारण यहाँ उसे स्वदेशी रंग नहीं मिला।
2. उसने अपनी सारी प्रेरणा विदेशों से ली, और अपनी एक अलग संस्कृति को रखने का प्रयत्न किया।
3. मुस्लिम पौरोहित्य संगठित था, मुलसमान अन्तर्भुक्त तो तब होते जब बहुमत विदेशी होता। बहुमत तो वही थी जिसने... जाति प्रथा का पहले ही विरोध किया था।
4. इस्लाम के पुरोहित वर्ग का रूप शासक का रूप था। उसको भारतीय समाज में मिल जाने में ‘राजनीतिक और आर्थिक हानि थी।
5. जब इस्लामी राजनीतिक शक्ति का हास हुआ, तब उस वर्ग ने बड़े जागरूक तरीके से उर्दू को जन्म दिया, जिसमें संस्कृत भाषा को दूर रखा गया।

ये ही कारण हैं कि आठ-दस सौ वर्षों से साथ रहने पर भी सामंजस्य और सौमनस्य नहीं आ सका। इधर के सारे प्रयास सामूहिक वोट पाकर राज सत्ता पाने के लिए मात्र एक पक्षीय सुविधा प्रदान करने का प्रयास है। गाँधी जी असफल हो चुके थे। वर्तमान राजनेता तो सौदाबाजी कर रहे हैं। भारत की एकता और अखण्डता पर संकट मँडराने लगा है। पाकिस्तान से प्राओजित आतंकवाद को भारत के विभिन्न क्षेत्रों में समर्थन मिलने लगा है। शेष मौन हैं! पाँच-दस प्रतिशत उदार तथा विचारवान मुसलमानों की बातें अनुसुनी की जाती हैं, जैसे स्वातन्त्र्य संघर्ष के दिनों में। अलगाव की मानसिकता को बदलने का प्रयास नहीं होता, संवर्द्धन की ही प्रतिस्पर्धा यह भारत के लिए दूसरी त्रासदी की स्थिति बना सकती है।

बृहत्तर भारत के अन्वेषक आचार्य रघुवीर

भुवनेश्वर प्रसाद गुरुमैता*

बसन्त पंचमी, 1968 की बात है। महामना मदन मोहन मालवीय के विचारों और सपनों को साकार करने के उद्देश्य से हिन्दू विश्वविद्यालय के पुराने छात्रों का एक सम्मेलन काशी में ही आयोजित किया गया था। यह सम्मेलन स्वनाम धन्य स्व. भाउराव देवरस की परिकल्पना और सर्वश्री पन्नालाल जायसवाल तथा बालेश्वर प्रसाद अग्रवाल की प्रबन्धपटुता एवं संगठन-कुशलता का सुपरिणाम था। इसमें देश-विदेश में कार्यरत काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के पुराने छात्रों का एकत्रीकरण हुआ था। मुझे भी वहाँ हिसार विश्वविद्यालय से चलकर भाग लेने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। मेरे जीवन का वह चिरस्मरणीय क्षण था, जब वहाँ मुझे विश्वविख्यात दो महान् विभूतियों का सान्निध्य प्राप्त हुआ। वे थे, सर्वश्री माधव सदाशिव गोलवलकर उपाख्य 'गुरुजी' और विश्वविश्रुत विद्वान् आचार्य रघुवीर। इनमें गुरुजी तो यहीं के पुराने छात्र थे, जिन्हें जीवविज्ञान में स्नातकोत्तर की उपाधि के साथ स्वर्णपदक प्राप्त हुआ था तथा मालवीय जी ने स्वयं उन्हें 'गुरुजी' के उपाख्य से विभूषित किया था। बाद में उन्होंने स्वामी विवेकानन्द के गुरुबन्धु स्वामी अखण्डानन्द से दीक्षित होकर अध्यात्म तथा राष्ट्रसेवा हेतु सम्पूर्ण जीवन समर्पित कर दिया था।

विश्वप्रसिद्ध व्यक्ति आचार्य रघुवीर के विषय में क्या कहना! आधुनिक राष्ट्रभाषा के क्षेत्र में अनेक उच्च कोटि के विद्वान हुए हैं। उनमें जैसे विद्वान और साहित्यकार फिर कभी उत्पन्न होंगे, यह सम्भावना कम है। वैसी महान् दुर्लभ विभूतियों में पंच महारत्नों के नाम इस प्रकार से ले सकते हैं : पहला नाम है, कथा सम्राट् प्रेमचन्द का, जिनके कथा-साहित्य के माध्यम से हम तत्कालीन भारतीय समाज को समझ सकते हैं। दूसरे हैं आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, जिन्होंने हिन्दी साहित्य के स्वर्णयुग का कपाट खोल दिया। तीसरे हैं, हिन्दी के बाणभट्ट आचार्य हजारी प्रसाद

*डॉ. भुवनेश्वर गुरुमैता, पूर्व राष्ट्रीय उपाध्यक्ष, अखिल भारतीय साहित्य परिषद, सम्पर्क : पो. मटियारी, द्वारा बलुआ बाजार, जि. सुपौल, बिहार-854339

द्विवेदी, जिन्होंने साहित्य को नई दृष्टि और अपूर्व मौलिक शैली प्रदान की। चौथी विभूति है, हिन्दी के परिव्राजक महापण्डित राहुल सांकृत्यायन, जिन्होंने तिब्बत जाकर हजारों पाण्डुलिपियाँ खच्चर पर लादकर पटना म्युजियम को समृद्ध कर दिया। इस प्रकार से राहुल जी ने भारतीय विद्या के अनुसन्धान-क्षेत्र में क्रान्ति ला दी। जिसकी प्रशंसा काशी प्रसाद जायसवाल तथा प्राच्य विद्या-विशारद शेरवास्की ने भी की।

अब हम पंचम महारत्न डॉ. रघुवीर की प्राच्य विद्या के क्षेत्र में देन पर विचार करते हैं। महापण्डित राहुल जी ने तो मध्य एशिया में विशेषकर तिब्बत का अन्वेषण किया था। किन्तु, आचार्य रघुवीर जी ने एशिया के उन सभी देशों की यात्रा की, जहाँ कहीं भारतीय संस्कृति का प्रवेश हुआ था। उनका विशिष्ट कार्यक्षेत्र चीन, जापान, वियतनाम, बाली, लाओस, थाईलैण्ड, इण्डोनेशिया और बर्मा था, तथापि यहाँ के वार्तालाप क्रम में उन्होंने अफगानिस्तान का विशेष रूप से उल्लेख किया। उनके कथनानुसार वर्तमान अफगानिस्तान तो प्राचीन 'उप-गण-स्थान' का ही अपभ्रंश रूप है। इसी प्रकार 'आर्याण' का ही परिवर्तित रूप 'ईरान' है। पुराने ईरानी अर्थात् पारसी आज भी अग्निपूजक हैं। इसमें किसी को भी यह स्वीकार करने में आपत्ति नहीं होगी कि उनकी संस्कृति यज्ञ-प्रधान भारतीय संस्कृति से मिलती-जुलती है।

ईरान की भाँति ही 'उपगण स्थान' भी कभी आर्यों का ही स्थान था। आचार्य रघुवीर ने पुरातत्त्व से भी उसके पुष्ट प्रमाण उपलब्ध कराए, जिन्हें सातवीं-आठवीं शता. में अरब से आई मजहबी आँधी ने ध्वस्त कर दिया। फिर भी, आज कट्टर-से-कट्टर मजहबी समीक्षक भी इससे इनकार नहीं कर सकता कि यह बृहत्तर भारत का ही पश्चिमोत्तरी अंग कभी रहा है। भारत के प्राचीन सोलह जनपदों के अन्तर्गत कभी 'गान्धार' और 'कम्बोज' भी थे। पाणिनि के अनुसार कम्बोज के पश्चिम 'वंक्षु' (OXUS) के दक्षिण और हिन्दूकुश के उत्तर-पश्चिम का प्रदेश 'बाल्हीक' महाजनपद था। हिन्दूकुश के दक्षिण-पूर्व में 'काबुल' तथा पश्चिम में 'गान्धार' का जनपद था। बाल्हीक और गान्धार के बीच में 'कपिश' जनपद था। पामीर के ठीक दक्षिण हुंजा और आधुनिक 'गिलगिट' का प्रदेश प्राचीन 'दरद' जनपद था। कम्बोज के दक्षिण में पूर्व से पश्चिम फैली हुई हिन्दूकुश की पर्वत श्रृंखला कम्बोज को भारत से अलग करती थी। सिन्धुनद तटवर्ती सिन्धुप्रान्त के निचले काठे का पुराना नाम 'सौवीर' जनपद था। सिन्धु के दाहिने किनारे का नाम 'शार्कर' था। पाणिनी ने इसे 'शर्करा' कहा है। आजकल यह 'शक्कर' नाम से प्रसिद्ध है। 'शक्कर का बाँध' सब कोई जानते हैं। प्राचीन समय में यही एक 'ब्राह्मणक' जनपद भी था, जिसे काव्य मीमांसाकार राजशेखर ने 'ब्राह्मणवह' कहा है यूनानी लेखक प्लूटार्क के साक्ष्य से यहाँ के निवासी दार्शनिक और योद्धा भी थे। अरब भूगोलकार अबूरी ने इसका नाम 'वमनहवा' दिया है, जो ब्राह्मणवह का ही देशी रूप है।

सिन्ध के ठीक दक्षिण में 'कच्छ' जनपद है। 'केकय' वर्तमान झेलम और शाहपुर का पुराना नाम था। 'मद्र' जनपद प्राचीन कालीन लीक का पुराना नाम था। इसकी राजधानी 'शाकल' थी, जो वर्तमान स्यालकोट नाम से पाकिस्तान के उत्तर-पश्चिम भाग में एक शहर है। वाहलीक का एक जनपद 'उशीनर' भी था। रावी, व्यास और शतलज (शतद्रु) इन तीन नदी-दूनों के बीच का समग्र भाग त्रिगर्त कहलाता था। इसी का एक भाग 'जालन्धरायण' (वर्तमान जालन्धर शहर) आज भी भारत में विद्यमान है। राम के पुत्र लव के नाम पर बसाया गया नगर 'लवकोट' वा लवपुर (वर्तमान लाहौर), हिंगुला देवी का स्थान बलुचिस्तान, ननकाना साहब, मुल्तान (मूलस्थान), सिन्धुघाटी सभ्यता के स्थल हड़प्पा तथा मोहनजोदड़ो, झेलम, रावी, शतलज (शतद्रु), चनाब (चन्द्रभागा) आदि नदियों की लीलाभूमि एवं सिन्धुनद से सिंचित स्थल आज भारत से बाहर दिख रहे हैं। पाक अधिकृत काश्मीर में भी हिन्दू संस्कृति के असंख्य कीर्तिस्तम्भ विद्यमान हैं। विद्या-ज्ञान, विवेक तथा मोक्ष प्रदायिनी माँ शारदा का पवित्र सिद्धपीठ आजाद काश्मीर के मुजफ्फराबाद जिले में किशनगंगा और मधुमती नदियों के संगम पर स्थित है। अत्यन्त प्राचीन हिन्दू कला एवं शिक्षा का केन्द्र तथा ऐतिहासिक महत्त्व के इस शारदाबल के 'शारदा माता' मन्दिर के प्रति हमारी अब तक श्रद्धा रही है।

आचार्य रघुवीर ने प्राचीन पश्चिमोत्तर एशिया तथा अफगानिस्तान की पश्तो भाषा में संस्कृत के तद्भव शब्दों का सन्धान करते हुए उन्हें संस्कृत परिवार से सम्बद्ध बताया। इतना ही नहीं, एक बार यूरोपीय यात्रा के क्रम में उन्होंने जिप्सी भाषा का भी अध्ययन किया और इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि जिप्सियों की मूल शाखा भारत से ही बाहर गई थी। उन्होंने साइबेरिया जाकर उस पर भारतीय प्रभाव की खोज की और सभी स्लाव भाषाओं को संस्कृत शब्दों से ओत-प्रोत पाया। उन्होंने सरस्वती विहार को बृहत्तर भारत के चित्र को स्पष्ट करने वाली सामग्रियों से समृद्ध कर इतना अधिक सुसज्जित कर दिया कि डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल को भी स्वीकार करना पड़ा "आचार्य रघुवीर ने बृहत्तर भारत की जितनी सामग्रियाँ सरस्वती विहार की छतों के नीचे एकत्रित कर दी हैं, उतनी संसार में और किसी एक स्थान पर नहीं मिलेंगी। उन्होंने अस्त्रा खान (बोल्गा) से 'पद्म पुराण', बाइकाल के निकट से 'सुभाषित-रत्ननिधि' और मंगोलिया से विक्रमादित्य और राजा भोज की कहानियों की पुस्तकें प्राप्त की हैं।"

आचार्य रघुवीर अकेले एक संस्था ही नहीं, एक राष्ट्र थे। उन्होंने जब शतपिटक की योजना बनाई तो सारे संसार के प्राच्य विद्या विशारद आश्चर्यचकित रह गए। तीन पिटकों में तो समस्त बौद्ध साहित्य का सार संकलित समझा जाता है। आचार्य रघुवीर ने योजना बनाई थी कि 'सौ पिटकों में यह समस्त भारतीय साहित्य प्रकाशित कर दिया जाए, जो मूल या अनुवाद के रूप में प्राचीन काल में विदेशों में पहुँचा था। अर्थात् जैसे पाली ग्रन्थों के संग्रह त्रिपिटक कहलाते हैं, वैसे ही नेपाल, गान्धार, शुलिक, खोतन (मध्य एशिया), तुरुष्क (तुर्किस्तान), पारस (ईरान), ताजक (अरब), भोट (तिब्बत),

चीन, मंगोल (मंगोलिया), मंजु (मंचूरिया), उदयवर्ष (जापान/जयपाणि), सिंहल (लंका देश), सुवर्ण भू (बर्मा), श्याम (थाईलैण्ड), कम्बुज (कम्बोडिया), वियतनाम, चम्पा, द्वीपान्तर (जावा, बाली, सुमात्रा) आदि में अनुवाद या मूल के रूप में जो भारतीय साहित्य उपलब्ध है, उसे शतपिटक नामक विशाल संग्रह के रूप में प्रकाशित किया जाए।

आचार्य रघुवीर द्वारा प्रस्तावित यह सारस्वत कार्य इतना सराहनीय और विशाल है कि उसे एक नहीं, अनेक संस्थाएँ मिलकर अनेक वर्षों में पूरा कर सकती हैं। आचार्य जी किसी भी कार्य को असम्भव नहीं मानते थे। उन्हें अपनी शक्ति पर अखण्ड विश्वास था। तभी तो उन्होंने केवल अपने बल पर इसे आरम्भ कर दिया था। और उसके कई ग्रन्थ अपने जीवनकाल में ही प्रकाशित कर दिए थे। इस प्रकार विश्व के विद्वानों के मनोबल को बढ़ाने का उन्होंने शुभारम्भ किया था। किन्तु, काल ने अकाल ही सरस्वती के इस वरदपुत्र को भारत से छीन लिया। जब उनका महाप्रयाण हुआ तो संसार के कोने-कोने से शोक-संवेदनाओं की झड़ी लग गई। समस्त विश्व के प्राच्य विद्या विशारदों ने इतने बड़े पैमाने पर उतना शोक कभी नहीं मनाया था, जितना आचार्य रघुवीर के दिवंगत होने पर अन्तर से मनाया। मुझे स्मरण है, जब चण्डीगढ़ विश्वविद्यालय में मेरे पूज्य गुरुवर आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी तथा डॉ. बुद्ध प्रकाश जी बिलख पड़े थे। आज आवश्यकता इस बात की है कि दिल्ली के जिस सरस्वती विहार के पावन मंच से उन्होंने शतपिटक की योजना चलाई और प्राचीन काल में विदेशों में गई हुई भारतीय विद्या और संस्कृति के उद्धार का संकल्प-कार्य आरम्भ किया, उसे आज उनके ही सुपुत्र डॉ. लोकेश चन्द्र के मार्गदर्शन में सब मिलकर सम्पन्न करें। इसमें सन्देह नहीं कि डॉ. लोकेश चन्द्र जी इस यज्ञ के प्रधान पुरोधा के रूप में मार्गदर्शन करने में पूर्णतः सक्षम हैं। आज यह कृतज्ञ राष्ट्र अपने महान् सपूत का स्मरण करता है। पड़ोसी मध्य एशिया इस आधुनिक भारतीय ह्येनसांग को नमन करता है। 28 अप्रैल, 1946 को उन्होंने जो पूना की विद्वत् सभा में 'को वेदान उद्धरिष्यति' पर जो सम्भाषण दिया था, वह अमरवाणी आज भी गूँज रही है। मथुरा की विद्वत् सभा के सम्बोधन को कामकोटि के शंकराचार्य श्रद्धा के साथ स्मरण करते हैं। हिन्दी-आन्दोलन के प्रतीक के रूप में वे युग-युग तक याद किए जाएँगे। लाखों हिन्दी पर्यायवाची शब्दों का निर्माण करने के कारण वे *अभिनव पाणिनि* के रूप में देखे जाने लगे थे। हम लोग कातर भाव से मंगलमय परमात्मा से प्रार्थना करते हैं कि पटना की एक सभा में उन्होंने जो उद्गार प्रकट किए थे "हे यमदेव! तुमसे मेरी एक ही प्रार्थना है कि मुझे तब तक न बुलाना जब तक अंग्रेजी के बीस लाख शब्दों के हिन्दी पर्याय पूर्ण न कर लूँ," उसी सद्भाव से समस्त देशवासियों की करुण पुकार है हे सरस्वती के वरदपुत्र! तुम फिर आओ।"

नेता

शंकर पुणताम्बेकर*

नेता पर लिखना कुछ कठिन ही लगता है मुझे। भगवान पर लिखना आसान है क्योंकि वह सर्वगुण-सम्पन्न है, दैत्य पर भी लिखना आसान है क्योंकि वह सर्वदुर्गुण-सम्पन्न है। पर नेता के बारे में कुछ लिखने पर आता हूँ तो बड़ी विचित्रता अनुभव करता हूँ। वह गुण-सम्पन्न और दैत्य है, वह दुर्गुण-सम्पन्न है और भगवान है। मैं गुणसम्पन्न बता कर चुप हो जाऊँ और दैत्य न कहूँ तो लगता है सामान्य जन के साथ धोखा कर रहा हूँ, इसके विपरीत मैं दुर्गुण-सम्पन्न बताकर उसे भगवान कहूँ तो लगता है मैं अपनी आँखों पर विश्वास नहीं कर रहा हूँ।

कहूँ कि नेता भगवान नहीं, दैत्य नहीं वह तो आदमी है जो गुण-सम्पन्न भी होता है दुर्गुण-सम्पन्न भी। इस दशा में तो मैं और भी चक्कर में पड़ जाता हूँ। आदमी है तो इसे महँगाई क्यों नहीं, आदमी है तो कानून इनसे क्यों डरता है, और-तो-और आदमी भी इनसे क्यों डरता है!

नेता को अफसर, सेठ, धर्मगुरु की श्रेणी में भी नहीं रखा जा सकता जिन्हें महँगाई नहीं होती और कानून इनसे डरता है, आदमी भी। इसलिए नहीं रखा जा सकता कि अफसर, सेठ, धर्मगुरु स्वयं नेता से डरते हैं। बिल्कुल इसी तरह किसी जमाने में जैसे राजा से डरते थे।

अब नेता को राजा भी तो नहीं कहा जा सकता इस लोकतन्त्र में। इसमें लोकतन्त्र का अपमान नहीं होगा उतनी मेरी छी: थू: कैसा खुशामदी है!

अब यह कैसी सुविधाजनक स्थिति है कि मैं नेता को जैसा की राजा को कहा जाता था हुजूर, माई-बाप, अन्नदाता नहीं कह सकता जबकि वह मेरा हुजूर, माई-बाप और अन्नदाता बना हुआ है।

2 मायादेवी नगर, जलगाँव-2 (महाराष्ट्र), मो. 09403159031

राजा से डरो राजभक्ति का लक्षण था। नेता से डरो तो यह कायरता का लक्षण माना जाता है! स्वयं मुझ में ही प्रश्न उठता है, क्या मैं लोकतन्त्र का ही नागरिक हूँ? लोकतन्त्र कायों का नहीं होता।

नेता से नहीं डरो तो अनुशासन का हवाला दिया जाता है, और नतीजा यह भुगतना होता है कि मेरे रास्ते बन्द न होते हों, तो उन पर स्पीड-ब्रेकर अवश्य लगा दिया जाता है, बिल्कुल सांविधानिक ढंग से।

जिस अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता से खुद नेता का जन्म होता है उसी का वह दुश्मन न हो सौतेला बन जाता है। अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता में माइक बन्दूक हो, पर नेता के पास मेरी तरह एक ही नहीं पाँच-पाँच, दस-दस बन्दूकें होती हैं। इस दशा में मेरी अभिव्यक्ति कितनी ही सत्यतापूर्ण और निडर क्यों न हो, वह धराशायी बन चारों खाने चित हो जाती है।

इस मायने में नेता चालाकी से भरा राजा ही है। राजा गाली देनेवालों को बन्दूक से भूनता था, नेता गाली देनेवाले को माइक से भूनता है। जिन्दा दूसरा भी नहीं रह पाता।

बिजलीघर को पावर हाउस कहते हैं, नेताघर भी पावर हाउस होता है। बिजली में प्रकाश, शक्ति, गति होती है, नेता में भी ये लक्षण देखे जाते हैं। बिजली खतरनाक होती है शॉक देती है। नेता के बारे में भी यही कहा जा सकता है, बल्कि नेता स्वयं अपने लिए प्रकाश, शक्ति, गति अधिक है औरों के लिए शॉक।

मैं कवि की, ज्ञानी की, दार्शनिक की और-तो-और महात्मा की भी व्याख्या कर सकता हूँ, पर नेता की नहीं। मैंने कितने ही ग्रन्थ छान मारे मुझे नेता की सन्तोषजनक, कहूँ की यर्थाथपरक परिभाषा नहीं मिली। मैं इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका में भी पहुँचा। पर इसका 'डीलर' बदन पर खादी नहीं पहने हुए है और मुँह पर गाँधी नहीं लिए हुए है, सो यहाँ की व्याख्या मुझे अर्थहीन लगी।

जब ब्रिटानिका ही मुझे सन्तुष्ट नहीं कर पाया तो औरों की क्या विसात! मैंने लोगों को इस बावत छेड़ा तो उनका रुख ऐसा जैसे मैं प्याज-बैंगन की ही बात कर रहा हूँ। प्याज-बैंगन का उठता-गिरता भाव तो होता ही है इनकी व्याख्या नहीं। व्याख्या की बात कोई मूर्ख ही करेगा।

प्याज-बैंगन की बात से एक बात साफ है। जो चीज सामान्य-सी है उसकी व्याख्या के चक्कर में हम नहीं पड़ते। व्याख्या कवि-ज्ञानी-दार्शनिक जैसे क्लासिक की होती है, किसी ऐरे-गैरे की नहीं।

आज राजनेता के बारे में हम कुछ भी कह लें, उस पर व्यंग्य-बाण छोड़ें, इसमें दो राय नहीं है कि नेता राष्ट्रीय चेतना का प्रहरी है। वह जननायक हो, पर राष्ट्र का सैनिक है, तिलक, गाँधी, नेहरू, बोस, सावरकर ऐसे बीसियों नाम गिनाए जा सकते

हैं जो हमारे राष्ट्र की अभूतपूर्व गौरवनिधि हैं, ऐसी अभूतपूर्व जो दुनिया में अन्य कहीं नहीं दीख पड़ती।

बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध ने दो महायुद्ध देखे। दूसरे में शस्त्र का विध्वंस का चरम।

ये युद्ध देशों ने लड़े हों, राजाओं ने नहीं लड़े थे। देश के नेताओं ने लड़े थे।

नेता ये कैसे नेता! राजाओं-जैसे ही विध्वंसकारी, युद्धपिपासु नेता!

नेता... बड़े विचित्र नेता ये। घर के लोकतन्त्र, घर के बाहर शाहतन्त्र।

यह कौन-सी संस्कृति पनप रही थी यूरोप में, अमरीका में कि नेता भी राजाओं की तरह छीना-झपटी कर रहे थे! यहाँ देश के अन्दर मंगलराज हो, सीमा पर जंगलराज चल रहा था!

इस मायने में ये विकसित देश क्या अर्धविकसित ही नहीं थे? शासक : आधा नेता आधा शाह।

सच कहो तो महायुद्धों के बाद भी यूरोप-अमरीका की तस्वीर में कोई तब्दीली नहीं है। ये पूर्वार्ध में जितने विकसित उससे कहीं उत्तरार्ध में दस गुना विकसित। पर नेता वैसा-का-वैसा अर्धविकसित। घर का लोकतन्त्रीय, घर के बाहर का शाहतन्त्रीय।

भारत के नेता की तस्वीर ऐसी नहीं है। स्वतन्त्रता के पूर्व वे स्वतन्त्रता-सैनिक थे। स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेने के पश्चात् उनकी नियत शाहतन्त्रीय नहीं बनी कि बाहर के देशों से छीना-झपटी में लग जाएँ।

हाँ, कहा जा सकता है कि देश ऐसा समृद्ध ही नहीं और उसकी शस्त्रास्त्र की इतनी ताकत ही नहीं कि छीना-झपटी कर सके। यह तथ्य है, पर मूल तथ्य नहीं।

भारत अपनी भौतिक और शस्त्रास्त्र समृद्धि में भी जैसा घर का लोकतन्त्रीय है वैसा घर के बाहर का भी लोकतन्त्रीय बना रहेगा। हाल का (जून-जुलाई 99) कारगिल-युद्ध इसका ज्वलन्त उदाहरण है। पाकिस्तानी घुसपैठियों को खदेड़ने के लिए भारत चाहता तो नियन्त्रण रेखा पार कर लाहौर पर आक्रमण कर सकता था। 1947 के कश्मीर युद्ध में भी लाहौर कब्जे में लिया जा सकता था, पर देश के नेताओं ने ऐसा किया नहीं।

इतिहास वह जो शासक के माध्यम से संस्कृति को प्रस्तुत करे। भारत का इतिहास ऐसा ही है, पर पश्चिम का इतिहास सर्वथा विपरीत है। वह समृद्धि के माध्यम से शासक को प्रस्तुत करता है। यह शासक लोकतन्त्रीय बन जाने पर भी उसके इतिहास का रुख वही छीना-झपटी वाला जंगली है।

भारत का इतिहास यही कारण है कि अधिकांशतः पराजय का इतिहास है, यहाँ पृथ्वीराज चव्हाण की पराजय हुई, हेमू की, राणा प्रताप की पराजय हुई, विश्वासराव पेशवा की पराजय हुई। शाहआलम की पराजय हुई। ये ऐसी पराजय थीं जिन्होंने देश की तस्वीर ही बदल दी।

देश की तस्वीर बदली, पर देह की आत्मा की नहीं।

देश के राजा यहाँ परास्त हुए, जातियाँ वंश परास्त हुए, पर धर्म-संस्कृति-जीवन दृष्टि नहीं।

वर्तमान का इतिहास देखें तो जिस चीन के साथ पंडित नेहरू ने 'हिन्दी-चीनी भाई-भाई' कहकर सहअस्तित्व का, बन्धुत्व का हाथ बढ़ाया उसी ने उसकी पीठ में छुरा घोंपा। बांग्ला देश के निर्माण में ही भारत का हाथ था, लेकिन इस देश का सलूक हमारे साथ कभी मैत्रीपूर्ण नहीं रहा। लाखों नागरिक हमारे देश में जबरन आकर बस गए हैं।

पश्चिम के मुसोलनी, स्टालिन, हिटलर तो ठीक खत्म हो गए, चर्चिल-लेनिन-रुजवेल्ट भी क्या खत्म नहीं हो गए? क्या उनका प्रभा-वलय आज भी विद्यमान है, उनके ही देश में?

भारत के नेताओं का वलय आज भी विद्यमान है। भारत का स्वतन्त्रता-संग्राम दुनिया के तीसरे देशों के स्वतन्त्रता-संग्राम की अदम्य प्रेरणा बना और आज भी बना हुआ है।

मुझे लगता है मैं अपने इतिहास की पराजयों को गौरवान्वित कर रहा हूँ। आत्मा की तुलना में देह को, संस्कृत की तुलना भौतिकता को तुच्छ लेख रहा हूँ। पर क्या बताऊँ भारतीय सोच कि यह प्रकृत है। आत्मा और संस्कृति के पीछे देह और भौतिकता को हम तुच्छ देखते हैं।

इस प्रकृति से बल्कि कहे की विकृति से हमें छुटकारा पाना होगा। आत्मा और संस्कृति की श्रेष्ठता को कायम रखते हुए हमें देह और भौतिकता की उन्नति की ओर अग्रसर होना होगा।

और पश्चिम का प्रभाव कि आज हमारी दृष्टि बदलती है। विज्ञान के कारण दुनिया सिकुड़ रही है, सो यह युग की माँग थी। पश्चिम को नकारकर आज हम दुनिया में खड़े ही नहीं रह सकते।

लेकिन पश्चिम की हवा में उचित नहीं की हम अपने देश की माटी को ही भुला दें। आज यही हुआ है। देह और भौतिकता ही हमारे लिए सब कुछ बन गई हैं।

इतिहास की दृष्टि से यह हमारी एक प्रकार से पराजय ही है। ऐसी पराजय जो अब तक इतिहास ने नहीं देखी थी। पराजय विकास के नशे में हमें जिसका भान ही नहीं हो पाता।

इसके लिए पूर्णतः हमारा नेतृत्व उत्तरदायी है। नेतृत्व ने पूर्व की जीवन-दृष्टि को जिसके केन्द्र में ग्राम था भुला दिया और पश्चिम के अनरूप नगर को विकास के केन्द्र में रखा।

गाँधी, राममनोहर लोहिया, जयप्रकाश नारायण, दीनदयाल उपाध्याय जैसे नेताओं में ग्राम ही केन्द्र में था, पर हमारा सत्तासीन नेता नेहरू का ही परिवार का ही

उत्पाद रहा जिसका हृदय तो भारतीय था, पर अस्तित्व पश्चिमी। स्वतन्त्रता को लेकर बाद के पैतालीस वर्ष तक काँग्रेस दल के नाम देश में नेहरू और उनके वंशजों का ही राज रहा जिसके भारतीयता की दृष्टि से तटस्थ और निष्पक्ष विश्लेषण की आज आवश्यकता है। काँग्रेस तो आज पछली दो पराजयों के बाद तेरहवीं संसद के चुनावों में भी नेहरू परिवार की मानसिक गुलामी से मुक्त नहीं हो सकी है।

इधर देश में उदारीकरण और उधारीकरण साथ-साथ चलते रहते हैं और दोनों ही देश के सांस्कृतिक हास के कारण बने हुए हैं। उदारीकरण आधुनिकता के नाम पश्चिमी उत्पादों के प्रवेश का। ये उत्पाद नब्बे प्रतिशत गैर-जरूरी चीजों के होते हैं अथवा ऐसे जो हमारी संस्कृति को भ्रष्ट करते हैं। इस उदारीकरण में देश के नेता सहयोग न दें तो पश्चिम की ओर से उधारीकरण आप ही बन्द हो जाएगा। उधारीकरण में विकास अधिकांशतः नगरों का ही होता है जो एक तरफ हमारे जीवन-स्तर को ऐसा ऊँचा उठाता है कि हम पश्चिम की...उधार देनेवाले की गैर-जरूरी चीजें खरीदने की ताकत वाले नागरिक बनते हैं जो दूसरी तरफ कर्ज के बोझ से लदते जाते कमजोर राष्ट्र।

और कमजोर की कोई अस्मिता नहीं होती, उसकी सांस्कृतिक विरासत फिर कितनी ही ऊँची हो।

हम डिक्टेड न करें ऊँची बात है, पर हम डिक्टेड भी न हों। हम आज उदारीकरण और उधारीकरण दोनों मार्गों से डिक्टेड हो रहे हैं। लोकतन्त्र में। और लोकतन्त्र अन्ततः नेतातन्त्र ही होता है

लोकतन्त्र में जन नेता में समा जाता है, पूरा देश उसी में समा जाता है।

अविकसित देश की ट्रेजिडी यह है कि नेता का चुनाव जन नहीं करता उसकी कमजोरी करती हैबल्कि कहें कि नेता उसी कमजोरी को एक्सप्लॉइट करता है और करते रहने के लिए उसकी कमजोरी को बनाए रखता है। दल कोई भी हो। इसके लिए हमारे यहाँ नेता की ऊँचाई उसके कर्तृत्व में नहीं है, इस एक्सप्लॉइटेशन की क्षमता में है। काँग्रेस को स्वतन्त्रता के बाद के कई वर्षों तक गाँधी और अपने संग्राम से एक्सप्लॉइट करती रही। उसका प्रभा-वलय ऐसा कि गाँधी-नेहरू-इन्दिरा की ऐतिहासिक भूलों को इतने वर्षों बाद भी नजरअन्दाज किया जाता है। अंग्रेजी आज भी इसी कारण देश में जमी हुई है, कश्मीर के मामले में की गई भूल शूल बनी हुई है, पाकिस्तान को स्वीकार कर तो काँग्रेस ने देश के लिए नित्य का सिरदर्द मोल ले लिया है उधर इन्दिरा के शासन ने यह बता दिया कि दल की घरानाशाही डिक्टेटरशिप की हद तक जा सकती है।

नेता की व्याख्या न की जा सकती हो, पर उसके बारे में लिखा खूब गया है। साहित्य में हास्य-व्यंग्य तो आज नेता-पुराण से ही परिपुष्ट हुआ है। साहित्य का यथार्थ आज बहुत कुछ नेता यथार्थ है।

नेता को भाषण का सौदागर कहा जाता है। मैं इस कथन में पूँछनहीं, सींग जोड़ना चाहता हूँ। नेता दल और खादीधारी भाषण का सौदागर है।

बाजार में कितने प्रकार का माल और उनमें कैसी होड़! बिलकुल इसी तरह राजनीति में कितने प्रकार के भाषण...चुनाव के दिनों में जिन्हें घोषणा-पत्र कहते हैं और उनमें कैसी होड़!

नेता दलों के घोषणा-पत्र के एजेंट होते हैं। जो ज्यादा-से-ज्यादा बेचता है उससे कमीशन स्वरूप क्या-क्या नहीं मिलता कार, बँगला, कुर्सी, ज्यादाती-पक्षपात-भ्रष्टाचार आदि की छूट।

भाषण की इबारत में मूल शब्द इने-गिने होते हैंदेश, महात्मा गाँधी, समता, न्याय, गरीबी-बेरोजगारी का उच्चाटन, हमारा गौरवशाली इतिहास, पंचवर्षीय योजना, धर्मनिरपेक्षता, हमारा बलिदान, ग्रामोद्धार, शिक्षा-चिकित्सा-सड़कें, ऐसी-वैसी पार्टियों से सावधान आदि।

अपने नंगेपन को ढँकने के लिए पोस्टर, बैनर, अखबार बड़ी खूबी के साथ ओढ़े रहता है।

नेता के भाषण की इबारत से उसकी शैली ज्यादा महत्वपूर्ण होती है। शैली में श्रोताओं की भावना उभारने का जादू चाहिए। ऐसा जादू कि उसके जाल में मछलियाँ फँसती चली जाएँ!

एक तरफ जनता के जाल काटनेवाला सच्चा नेता, दूसरी तरफ जनता पर जाल चलानेवाला जादुई नेता। बाजी नित्य जादुई नेता मार ले जाता है।

इसलिए अन्य क्षेत्रों के नेतृत्व में विषयपक्ष महत्वपूर्ण हो राजनीति क्षेत्र में शैलीपक्ष है।

चित्रकला में कोलाज शैली चल पड़ी है। कई दिनों तक तो मैं जानता ही नहीं था, कोलाज क्या बला है। किसी से पूछने में शर्म लगती थी। अरे, कैसा मूर्ख है ये! बड़ा प्रोफेसर बना फिरता है!

कोलाज जानने के पूर्व औरों की तारीफ करते देख मैंने भी ऐसे कितने ही चित्रों की तारीफें की हैं।

कोलाज शैली को मैं यहाँ इसलिए लाया कि नेता अपने-आप में कोलाज चित्र है। कुत्ता-गैंडा, साँड़-सियार, सूअर-भेड़िया जैसे पशु चेहरों के टुकड़ों से बना, ऐसे कि चेहरा आदमी का लगे।

नेता को ऐसा प्राणी कहा जाता है जो अखबार में जन्मता है, अखबार में जीता और अखबार में मरता है। जैसे सेठ बाजार में जन्मता-जीता-मरता है, जैसे डॉक्टर रोग में जन्मता-जीता-मरता है।

अखबार वास्तव में नेता देश है, ऐसा नेता देश जिसमें जनता बाढ़-अकाल-दुर्घटना दंगा-हड़ताल की सूत में ही दीख पड़ती है। नेता को यदि सजा देनी हो तो उसे

अखबार के बाहर खदेड़ दो। वह मछली की भाँति इस तरह छटपटाती जिन्दगी जिएगा जो मरती भी नहीं है जीती भी नहीं है।

मैंने एक बार नेता के साथ अखबार की यात्रा की। वह मुझे अखबार के फाटक पर ही खड़ा मिल गया था। कभी वह मेरी ही गली का निवासी था। मेरे साथ ताश, अष्टा-चंगा खेला करता था। मैंने उसे पहचाना पर उसने मुझे नहीं। मैंने उसका अभिवादन किया, जवाब में उसे काम करना पड़ा। फिर बोला, माफ करो, मैंने तुम्हें पहचाना नहीं। मैंने फौरन प्रतिक्रिया में कहा, कभी अखबार के बाहर आओ तो पहचानो।

उसने पूछा कैसे आना हुआ? किसी चक्कर-वक्कर में पड़ गए हो तो बताओ, रफा-दफा करवा दूँगा। मैंने कहा, धन्यवाद। चाहता हूँ आपके साथ अखबार घूम लूँ। नेता के पास में ही कार खड़ी थी। पर मैंने कहा पैदल घूमेंगे।

वह मुझे पहले फ्रन्ट पेज ले गया। बोला, इस पर बस मेरा और मेरा अधिकार है। मैंने देखा पूरा पृष्ठ उसकी बकवास से भरा हुआ है। नेता एक अधिकार सो इस पर विद्वान की सूक्तियाँ भी कभी चढ़ नहीं पातीं।

इसके बाद हम चले गए चलते गए और व्यापार पृष्ठ पर पहुँचे। यहाँ मुझे सोने-चाँदी के शेरों के आँकड़े दिखाने लगा। मैंने कहा, मेरी सोने-चाँदी-शेरों में रुचि नहीं है। यह बताओ अनाज के दाम, वस्त्रों के दाम, साइकिलों के दाम क्यों बढ़ गए हैं? जवाब में उसने कहा, इनमें मेरी रुचि नहीं है। और फिर वह मुझे तेजी के साथ खेल पृष्ठ पर ले गया। यहाँ क्रिकेट जोर-शोर से चल रहा था। वह मुझे उधर ले चलने को हुआ तो मैंने कहा, यह हॉकी-फुटबॉल की दुर्दशा क्यों? वह एकदम चुप हो गया। मैंने जब उसे सम्पादकीय, जनता तथा वांटेड पृष्ठों की ओर चलने की बात की तो उसके कदम एकदम धीमे पड़ गए और कुछ ही देर में मैंने देखा कि वह खादीधारी स्वदेशी व्हेलपूल जैसी विदेशी कम्पनियों के विशाल में जाकर खो गया।

अल्पसंख्यक आरक्षण की संभावनाएँ

शंकर शरण*

हाल म. सुप्रीम कोर्ट ने 'अल्पसंख्यक आरक्षण' के नाम पर मुस्लिमों और धर्मांतरित ईसाइयों को साढ़े चार प्रतिशत आरक्षण देने का आदेश खारिज कर दिया है। मगर इसे मामले का पटाक्षेप नहीं मानना चाहिए। कांग्रेस आलाकमान इसे येन-केन-प्रकारेण सुप्रीम कोर्ट से फिर किसी तरह पास करवाने म. लगा हुआ है। मामला आंध्र प्रदेश हाई कोर्ट द्वारा इस आरक्षण आदेश को अवैध ठहराने का था। उसी फैसले को सुप्रीम कोर्ट म. चुनौती दी गई थी। हाई कोर्ट ने कहा था कि जिस तरह ऐसे आरक्षण का आदेश हुआ, उस म. हल्कापन है। सुप्रीम कोर्ट ने भी वह मानते हुए तीन प्रश्न और जोड़े। पहला, क्या पिछड़ों के आरक्षण के अंतर्गत मजहबी आधार पर एक उप-कोटा बनाया जा रहा है? दूसरा, क्या इस आदेश को विधायिका का समर्थन है? तीसरा, इस आरक्षण का निर्णय लेने से पहले राष्ट्रीय पिछड़ा वर्ग आयोग से विमर्श क्यों नहीं किया गया, जबकि इससे पिछड़े वर्ग का आरक्षण सीधे प्रभावित होनेवाला था?

आंध्र हाई कोर्ट ने पूछा था कि पिछड़े वर्ग के कोटे म. यह साढ़े-चार प्रतिशतवाला उप-कोटा बनाते हुए यह नहीं बताया गया कि मुस्लिम, ईसाई, बौद्ध, पारसी आदि किस तरह एक ऐसा समरूप समूह बनते हैं, जिसे आरक्षण की जरूरत है? आश्चर्य है कि सुप्रीम कोर्ट म. अतिरिक्त सॉलीसिटर जनरल ने कहा कि हाई कोर्ट ने गलत समझा। वास्तव म., यह कोटा केवल निचले तबके के मुस्लिमों और धर्मांतरित होकर ईसाई बने लोगों के लिए ही है। बौद्धों या पारसियों के लिए यह उप-कोटा है ही नहीं! दूसरे शब्दों म., 'अल्पसंख्यक' के नाम पर यह उप-कोटा शुद्ध रूप से मुस्लिमों और ईसाइयों के लिए है।

एक अर्थ म. यह बड़ी भयंकर स्वीकारोक्ति है। बुनियादी रूप म. यह हिन्दू-विरोधी भी है। क्योंकि संगठित धर्मांतरण के धंधे म. लगे संपन्न, ताकतवर विदेशी मिशनरियों के हाथ म. हिन्दुओं को धर्मांतरित होकर ईसाई बनाने म. ऐसा आरक्षण बड़े जबरदस्त

*IV/44, एन.सी.ई.आर.टी. आवास, श्री अरविंद मार्ग, नई दिल्ली 110 016

हथियार का काम करता। फिलहाल तो सुप्रीम कोर्ट के फैसले से यह आरक्षण रूक गया। किन्तु जिन आधारों पर कोर्ट ने इसे खारिज किया है, वह मुख्यतः तकनीकी ही है। चाहे कोर्ट ने 'मजहबी आधार पर आरक्षण' पर सवाल जरूर उठाया, मगर उसने ज्यादा जोर तकनीकी बिन्दुओं पर दिया है। जैसे, विधायिका का समर्थन न होना और पिछड़ा वर्ग आयोग तथा अल्पसंख्यक आयोग से सलाह न लेना, आदि। इन आपत्तियों को दूर कर पुनः यह आरक्षण आ ही सकता है। कांग्रेस, समाजवादी पार्टी और कम्युनिस्ट पार्टी खुलकर मुस्लिम आरक्षण की पैरवी कर रही हैं। तब संविधान संशोधन करके यह आरक्षण कर देना कोई दूर की संभावना नहीं है। कांग्रेस नेता सलमान खुर्शीद ने अभी बयान भी दिया है कि उन्हें आशा है कि सुप्रीम कोर्ट से इसे मंजूर करा लगे।

इसलिए मुस्लिम आरक्षण की खतरनाक संभावना अभी बनी हुई है। विशेषकर, जब यह आधिकारिक तौर पर मान लिया गया है कि 'अल्पसंख्यक' का मतलब केवल मुस्लिम और ईसाई हैं। तब बकरे की अम्मा, यानी हिन्दू समुदाय, कब तक खैर मनाएगा! जिस तरह वोट-बैंक की राजनीति उग्र रूप ले रही है, उसके संकेत सभी राजनीतिक दलों के साष्टांग दंडवत् करने से मिल रहे हैं। अब तक केवल अनौपचारिक रूप से समझा जाता था कि भारत म. 'अल्पसंख्यक' शब्द का अर्थ व्यवहारतः केवल एक मजहबी समुदाय है। अब खुलकर कह दिया गया कि वास्तव म., सैद्धांतिक एवं प्रशासनिक-कानूनी तौर पर भी अल्पसंख्यक का यही अर्थ है!

मगर इस प्रसंग म. स्वयं सुप्रीम कोर्ट के ही कुछ पिछले निर्णयों और टिप्पणियों का स्मरण करना चाहिए। 'बाल पाटिल तथा अन्य बनाम भारत सरकार' (2005) मामले म. निर्णय देते हुए सुप्रीम कोर्ट ने कहा था कि अंग्रेजों द्वारा धार्मिक आधार पर किसी को अल्पसंख्यक मानने और अलग निर्वाचक मंडल बनाने आदि कदमों से ही अंततः देश के टुकड़े हुए। इसीलिए न्यायाधीशों ने यह चेतावनी भी दी थी कि "यदि मात्र भिन्न धार्मिक विश्वास या कम संख्या या कम मजबूती, धन, शिक्षा, शक्ति या सामाजिक अधिकारों के आधार पर भारतीय समाज के किसी समूह के 'अल्पसंख्यक' होने का दावा स्वीकार किया जाता है, तो भारत जैसे बहु-धार्मिक, बहु-भाषायी समाज म. इसका कोई अंत नहीं रहेगा।

वस्तुतः उस निर्णय म. 1947 म. देश के विभाजन का उल्लेख करते हुए न्यायाधीशों ने 'धार्मिक आधार पर अल्पसंख्यक होने की भावना को प्रोत्साहित करने' के प्रति विशेष चिंता जताई, जो देश म. विभाजनकारी प्रवृत्ति बढ़ा सकती है।

इसी पृष्ठभूमि म. अल्पसंख्यक आरक्षण को असांविधानिक बताने वाले फैसले का मूल्यांकन होना चाहिए। इसी फैसले को सुप्रीम कोर्ट ने फिलहाल यथावत् रहने दिया है। आंध्र हाई कोर्ट के अनुसार जिस तरह ऐसे आरक्षण का आदेश दिया गया, उस म. हल्कापन है। 'अल्पसंख्यक' के नाम पर वास्तव म. मजहबी आरक्षण देने की

कोशिश की जा रही है। क्योंकि यह नहीं बताया गया कि मुस्लिम, ईसाई, पारसी आदि किस तरह एक ऐसा समरूप समूह बनते हैं, जिसे आरक्षण की जरूरत है?

वस्तुतः हाई कोर्ट ने जो नहीं कहा, वह सब जानते हैं कि वर्तमान भारत म. 'अल्पसंख्यक' शब्द का अर्थ एक केवल, एक मजहबी समुदाय, हो गया है। राजनीति और मीडिया म. हर जगह अल्पसंख्यक का व्यवहारतः यही अर्थ है। इसलिए, अल्पसंख्यकों का आरक्षण वस्तुतः मुस्लिम आरक्षण का दूसरा नाम है। यह मुस्लिम भी जानते हैं। फिर, यह भी सर्वविदित है कि इस आरक्षण के सारे वायदे और दावे वोट-बैंक राजनीति से जुड़े हैं, किसी पिछड़ेपन की चिंता से नहीं।

ठीक यही बात ऊपर सुप्रीम कोर्ट वाली टिप्पणी (2005) के संदर्भ म. बड़ी गंभीर हो जाती है। जैसा अंग्रेजों ने किया था, फूट डाल कर राज करनेवाली नीति, कहीं स्वतंत्र भारत म. हमारे नेता भी गद्दी के लोभ म. वही तो नहीं कर रहे हैं? हाल म. उत्तर प्रदेश विधान सभा चुनाव में कई बड़े नेताओं ने जिस तरह चुनाव आयोग के नियम-कायदे तोड़कर मुस्लिम आरक्षण की बड़ी-बड़ी घोषणाएँ और दावे किए, वह साफ तौर पर वोट-बैंक राजनीति थी। किसी पिछड़ेपन को दूर करने जैसी भावना उस म. सिरे से गायब थी।

क्योंकि किसी भी समूह के पिछड़ेपन को दूर करने के लिए उसके कारणों को दूर करना होगा। क्या मुस्लिम समुदाय के पिछड़ेपन पर कोई वास्तविक शोध या प्रामाणिक अध्ययन किया गया है? यदि हाँ, तो कौन-सा, यदि नहीं, तो क्यों नहीं? नेताओं की घोषणाओं म. कहीं इस का संदर्भ नहीं मिलता। यही बात आंध्र हाई कोर्ट ने अपने फैसले म. लिखी कि अल्पसंख्यक आरक्षण पर कोई तथ्य, तर्क प्रस्तुत नहीं किया गया है।

जहाँ तक सच्चर समिति और रंगनाथ मिश्र समिति की बात है, तो वे विशुद्ध राजनीतिक समितियाँ थीं, अकादमिक नहीं। उनके कथित अध्ययन कुछ पूर्व-निर्धारित निष्कर्षों को पुष्ट करने के लिए खाना-पूरी भर थे। सच्चर के उग्र-राजनीतिक झुकाव और सक्रियता से सभी परिचित हैं। इसीलिए, सच्चर जैसे दस्तावेजों को पढ़कर कुछ पता नहीं चलता कि मुस्लिम समुदाय के पिछड़ेपन की अवधारणा किस आधार पर की गई है। कारण यही है कि राजनीतिक कारणों से उसम. कारणों को जानने के बदले छिपाने की प्रवृत्ति झलकती है। अन्यथा यह सामान्य ज्ञान की बात है कि भारतीय मुसलमानों के पिछड़ेपन का कारण अन्य सभी मुस्लिम देशों म. लगभग उसी तरह के पिछड़ेपन से भिन्न नहीं है। उन कारणों को कोई आरक्षण दूर नहीं कर सकता।

सच पूछिए तो तर्क, तथ्य से इसीलिए बचा जाता है क्योंकि मुस्लिम पिछड़ेपन का कारण ऐतिहासिक नहीं है। अनुसूचित जातियों, जनजातियों वाले हिन्दुओं से उन की तुलना करके स्थिति समझी जा सकती है। भारतीय संविधान ने आरक्षण केवल उन्हीं को दिया था। कारण सीधा था कि विगत कुछ सदियों से इन तबकों की

सामाजिक दुर्गति ने उन्हें. वास्तव म. दलित, वंचित, उत्पीड़ित कर रखा था। मुसलमानों की ऐसी स्थिति कभी नहीं थी। बल्कि बिलकुल उलटी रही।

सौ डेढ़ सौ वर्ष पहले तक भारत म., विशेष कर उत्तर भारत म. मुस्लिम ही अग्रणी समुदाय थे। राजनीतिक ही नहीं शैक्षिक रूप म. भी वे आगे माने जाते थे। सन् 1871 की जनगणना के अनुसार जनसंख्या म. 10% होते हुए भी स्कूलों म. मुस्लिम छात्रों की संख्या 25% थी। उच्च वर्ग के रूप म. मुस्लिम ही आगे थे। अनेक महत्त्वपूर्ण शहरों म. महत्त्वाकांक्षी हिंदू मुस्लिम उच्च वर्ग के साथ अधिक हेल-मेल रखते थे। क्योंकि सदियों से मुस्लिम एक तरह से शासक वर्ग समझे जाते थे। उनके साथ भेद-भाव तो क्या, वही दूसरों को अपने से नीचा समझते थे। सर सैयद से लेकर मौलाना आजाद तक, सन् 1947 से पहले तक किसी मुस्लिम नेता ने मुसलमानों को पिछड़ा वंचित, दलित, आदि न समझा, न कहा। उलटे लगभग सभी मुसलमान नेता और विद्वान एक स्वर से अपने को ऊँचा और विशेषाधिकारी समुदाय समझते थे।

डॉ. अब्दुलकर की प्रसिद्ध पुस्तक *पाकिस्तान और पार्टीशन ऑफ इंडिया* (1940) म. हर तरह के मुस्लिम नेताओं के विचारों का आकलन है। उन विचारों म. घमंड और शासकीय भावना कूट-कूट कर झलकती है। भारत-विभाजन की माँग भी मुस्लिम श्रेष्ठता की अहंकारी भावना पर आधारित थी। प्रसिद्ध विद्वान, सूफी और दिल्ली की निजामुद्दीन दरगाह के प्रमुख ख्वाजा हसन निजामी ने कहा था, “मुसलमान कौम ही भारत के अकेले बादशाह हैं। उन्होंने हिन्दुओं पर सैकड़ों वर्षों तक शासन किया और मुसलमान ही शासन करेगे।” जिन्ना ने भी विभाजन की माँग मुसलमानों के मालिक कौम, ‘मास्टर रेस’ होने के आधार पर की थी।

इन तमाम सच्चाइयों के मद्देनजर मुसलमानों के पिछड़ेपन के सही कारण सामने रखने चाहिए। उसे रेखांकित और दूर किए बिना, सीधे आरक्षण दे देना, एक प्रकार की सत्ता राजनीति होगी; एक समुदाय को उसकी ताकत के बल पर विशेषाधिकार देना, न कि उसके कथित पिछड़ेपन को दूर करने म. मदद देना। इसी को डॉ. अब्दुलकर ने ‘ग्रावामिन पॉलिटेक्स’ (दुर्बलता की भंगिमा म. दबंगई की राजनीति) कहकर हिन्दुओं को सावधान रहने के लिए कहा था। अपनी पुस्तक म. हिन्दू-मुस्लिम संबंध और दोनों समुदायों की ऐतिहासिक स्थिति की विस्तृत समीक्षा के बाद उन्होंने यह चेतावनी दी थी।

वस्तुतः मुस्लिम पिछड़ेपन की जड़े उन की अपनी मजहबी-वैचारिक रूढ़ियों म. है। उसे किसी आरक्षण से दूर नहीं किया जा सकता। उलटे यह उनकी जड़ मानसिकता को प्रोत्साहन देने का हानिकारक कार्य करेगा। मुस्लिम पिछड़ापन केवल भारत की बात नहीं। अफगानिस्तान से लेकर मोरक्को तक, सब जगह मुसलमान ज्ञान-विज्ञान, शिक्षा, कला-संस्कृति, आदि म. बुरी तरह पिछड़े हुए हैं। इसके असल कारण छिपाकर उन्हें. आरक्षण देना, वस्तुतः उन के पुराने अहंकार को भड़काते हुए

देश-घाती राजनीति म. डूबना है। उससे पिछड़ापन तो दूर होगा नहीं, बल्कि नई समस्याएँ पनपेंगी। पाकिस्तान आंदोलन का सारा इतिहास पुनः दुहराया जाएगा; बल्कि दुहराया जा रहा है। जहाँ मामला दुर्बल, वंचित होने के बदले ताकतवर, संगठित होने का हो, वहाँ ऐसा हर कदम उस अहंकार को ही बढ़ाएगा। डॉ. अब्दुलकर ने इसी से सावधान रहने की चेतावनी दी थी।

फिर, अल्पसंख्यक नाम पर मुस्लिम आरक्षण से हिन्दू समुदाय म. दोहरा रोष पैदा होगा। आखिर सारे मुस्लिम दावों, शिकायतों, आशंकाओं का एकमुश्त समाधान करने के नाम पर ही केवल साठ वर्ष पहले भारत को तोड़कर एक अलग देश, पाकिस्तान, बनाया गया था। उस के बाद भी बार-बार वही प्रक्रिया चलना हिन्दुओं म. ठगे जाने, धोखा खाने और उत्पीड़ित होने का भाव पैदा करता है। क्योंकि मुस्लिम पिछड़ेपन के लिए हिन्दुओं को दोषी ठहराया जाता है। सारी सेक्यूलर-वामपंथी राजनीति, सच्चर कमिटी, रंगनाथ मिश्र कमिटी जैसी राजनीति-प्रेरित रिपोर्ट यही करती हैं। असली कारण छिपाकर प्रकारांतर से हिन्दुओं पर दोष मढ़ती हैं। ताकि मुसलमानों को तरह-तरह के विशेषाधिकार दिए जा सक. लेकिन लगभग 60 इस्लामी देशों म. भी वही पिछड़ापन है। तब इस के दोषी हिन्दू कैसे हो गए?

इसीलिए सुप्रीम कोर्ट और आंध्र हाई कोर्ट को यह बिलकुल नहीं बताया जा सका कि अल्पसंख्यक आरक्षण के नाम पर एक विशेष मजहबी समुदाय को आरक्षण देने के पक्ष म. क्या तथ्य, तर्क है; कि किस आधार पर साढ़े चार प्रतिशत का, और केवल चुने हुए मजहबी समुदाय को जोड़ने का हिसाब लगाया गया? सॉलीसिटर के पास इस का उत्तर नहीं था। हो भी नहीं सकता था, क्योंकि यह सभी हिसाब राजनीति के क्षेत्र म. लगाए गए हैं। वोट और सत्ता के गणित से वे अधिक जुड़े हैं। न्याय, संविधान, देश-हित और सामाजिक एकता आदि उस हिसाब म. शामिल नहीं है। इसीलिए यह पूरा प्रसंग बेहद गंभीर हो जाता है। अभी समय है कि देश के चिंतनशील लोग जग. और लोभी नेताओं को पुनः-पुनः पाकिस्तान बनाने की राह पर जाने से रोक. अन्यथा यह पूरी प्रक्रिया सन् 1906 से 1947 तक की तुष्टिकरण नीति का हू-ब-हू दुहराव लग रही है।

डॉ. अब्दुलकर ने स्पष्ट कहा था, जिसे सदैव याद रखने की जरूरत है, कि मुस्लिम राजनीति विशुद्ध रूप से मजहबी राजनीति है, जिस म. दूसरों से विलगाव और विरोध मूल स्वर है। यह सब के साथ मिलकर रहने, आगे बढ़ने की प्रवृत्ति ही खत्म कर देती है। इसीलिए, मुस्लिम नेता अपने नारों, माँगों म. सचेत रूप से जड़ और अलगाववादी बने रहे हैं और अपने अनुयायियों को भी वैसा बनने को मजबूर करते हैं। यह मोटे तौर पर सारी दुनिया के मुसलमानों की स्थिति है। इसे छिपाकर हिन्दुओं को दोषी ठहराना और मुसलमानों को विशेष सुविधाएँ देना दोहरे रोष को जन्म देगा ही।

यहाँ हमारे सुप्रीम कोर्ट की एक और टिप्पणी ध्यान देने योग्य है। उसी बाल पाटिल मामले में कोर्ट ने यह भी लिखा था कि वास्तव में भारत में हिन्दू ही अल्पसंख्यक हैं। उस के शब्दों में, 'हिन्दू' शब्द से भारत में रहनेवाले विभिन्न प्रकार के समुदायों का बोध होता है। यदि आप हिन्दू कहलानेवाला कोई व्यक्ति ढूँढना चाहें तो वह नहीं मिलेगा। वह केवल किसी जाति के आधार पर ही पहचाना जा सकता है।...जातियों पर आधारित होने के कारण हिन्दू समाज स्वयं अनेक अल्पसंख्यक समूहों में विभक्त है। प्रत्येक जाति दूसरे से अलग होने का दावा करती है। जाति-विभक्त भारतीय समाज में लोगों का कोई हिस्सा या समूह बहुसंख्यक होने का दावा नहीं कर सकता। हिन्दुओं में सभी अल्पसंख्यक हैं।" क्या अल्पसंख्यक की अवधारणा करने में इस विचार पर गंभीरतापूर्वक विचार नहीं करना चाहिए था?

लेकिन सभी सच्चाइयों को दरकिनार कर सॉलीसिटर ने सुप्रीम कोर्ट में ही कह दिया कि इस आरक्षण में 'अल्पसंख्यक' का अर्थ केवल मुस्लिम और ईसाई समुदाय है। यह एक बड़ा और खतरनाक परिवर्तन है। इस के निहितार्थ हमारे देश और समाज के लिए अत्यंत घातक हो सकते हैं। चाहे कोई केंद्रीय राजनीतिक दल इस का खुलकर विरोध करने के लिए तैयार नहीं। बल्कि यह स्थिति की गंभीरता बढ़ा देता है, कि स्पष्टतः न्याय-विरोधी और संविधान-विरोधी कदम होते हुए भी कोई महत्वपूर्ण राजनीतिक शक्ति इसके विरुद्ध आंदोलन नहीं करनेवाली। जबकि सर्वविदित है कि मुस्लिम आरक्षण के सारे वादे और दावे वोट-बैंक राजनीति से जुड़े हैं।

चूँकि अब न्यायाधीशों की इन्हीं मामलों पर पुनर्विचार कर रहे हैं इस पूरी पृष्ठभूमि को भी ध्यान में रखना अत्यंत आवश्यक हो गया है। केवल तकनीकी आधारों पर ध्यान देने से, और किसी न किसी बहाने 'अल्पसंख्यक' के नाम पर मुस्लिम आरक्षण दे देने से भारत के लिए बड़े अवांछित परिणाम हो सकते हैं। विगत सौ वर्ष का पूरा इतिहास छिपाकर, नकली दलीलों के आधार पर, तथा क्षुद्र राजनीतिक स्वार्थों से प्रेरित होकर, एक बार पुनः मुस्लिम आरक्षण दे देना इस बार उस से भी बुरा परिणाम देगा, जो 1906 से आरंभ होकर 1947 में परिणत हुआ था।

हिन्दी शब्द परम्परा

शर्वेश पाण्डेय*

मानव जीवन के विविध पक्षों में अभिव्यक्ति एक महत्वपूर्ण अवयव है, जिसके लिए एक माध्यम की आवश्यकता होती है। मानव जीवन में भाषा का विकास इसी अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में हुआ होगा। यद्यपि आरम्भिक मानव की अभिव्यक्ति का माध्यम इतना सुव्यवस्थित नहीं रहा होगा, फिर भी अभिव्यक्ति के माध्यम में इतनी व्यवस्था तो रही होगी, जिससे वह अपनी मूलभूत आवश्यकताओं को सम्प्रेषित कर सकता हो। भाषा ने भी मानव के विकास के साथ अपनी संरचनाओं में काफी विकास किया। आज भाषा सम्प्रेषण के साथ मनुष्य की अस्मिता को भी अभिव्यक्ति प्रदान करती है, मानव की पूरी पहचान को हम भाषा के माध्यम से जान सकते हैं। भाषा के सम्प्रेषण की क्षमता का विकास उसकी संरचना के विकास के साथ ही हुआ। भाषा की संरचनाओं का विकास उसके व्यवहार के साथ निरन्तर गतिमान होता रहता है। दूसरे शब्दों में कहें तो भाषा में निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं। इस परिवर्तन की आधारभूमि समाज और उसके लोग होते हैं जिनकी स्वीकृति एवं अस्वीकृति पर ही भाषा का विकास निर्भर करता है। भाषा-भाषी समाज में विकल्पन, चयन, प्रयोग एवं स्वीकृति के आधार पर ही कोई भाषा अपने आगे का रास्ता तय करती है। इस प्रक्रिया में भाषा में कई नई चीजों को स्वीकृति मिलती है और बहुत सारी पुरानी चीजें छूट जाती हैं और इस तरह भाषा का कारवाँ आगे बढ़ता रहता है। भाषा को समृद्ध करने वाले अवयवों में दो की बड़ी महती भूमिका होती है जिसको भाषाविद् भी स्वीकार करते हैं। एक है भाषा की वर्णमाला और दूसरा है भाषा की शब्द सम्पदा। किसी भी भाषा की वर्णमाला जहाँ संक्षिप्त और अभिव्यक्ति के विस्तार की क्षमता से युक्त होनी चाहिए; वहीं किसी भी भाषा की शब्द-सम्पदा जितनी समृद्ध होती है, वह भाषा को समृद्ध बनाती है। वर्णमाला में कम वर्ण हों और उनसे सब कुछ भाषा में अभिव्यक्ति किया जा सकता हो, तो उस भाषा को वर्ण या ध्वनि की दृष्टि से सम्पन्न

* रीडर, डी.सी.एस. के.पी.जी. कालेज, मऊनाथ भंजन, मऊ-275101 (उ.प्र.)

भाषा कहते हैं। जिस भाषा में शब्दों का एक समृद्ध भंडार होता है, उस भाषा को हम सम्पन्न भाषा मानते हैं। यही कारण है कि कोई भी भाषा अपने विकासक्रम में लगातार नये-नये शब्दों को ग्रहण करने के उपक्रम में लगी रहती है। इस तरह किसी भी भाषा की समृद्धि में उसके शब्दों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रहती है। अतः भाषा के अध्ययन का एक महत्त्वपूर्ण आयाम उसकी शब्दों की परम्परा का अध्ययन है।

किसी भी भाषा में शब्द एक ही परम्परा से नहीं आते, अपितु कई परम्पराओं से आते हैं और शब्द ग्रहण के दौरान भाषा में शब्दों का अनुकूलन होता है। शब्दों की ध्वनि व्यवस्था और उसकी अर्थ-संरचना में कई तरह के परिवर्तन होते हैं, तब जाकर कहीं कोई शब्द किसी भाषा का अंग बन जाता है। इस तरह भाषा के सम्बन्ध में शब्दों की परम्परा का अध्ययन एक महत्त्वपूर्ण कार्य है। इसी उद्देश्य से हिन्दी भाषा के शब्दों की परम्परा के अध्ययन का प्रयास किया गया है, जिसमें हिन्दी भाषा में शब्दों के ग्रहण करने की परम्परा का अध्ययन करने के साथ उसके स्रोत और अनुकूलन का भी अध्ययन किया जाएगा। शब्दों के ग्रहण की परम्परा का अध्ययन ही महत्त्वपूर्ण नहीं, अपितु इस परम्परा के अध्ययन के साथ ही भाषा में शब्द ग्रहण की सम्भावनाओं की बात भी महत्त्वपूर्ण है। शब्द ग्रहण की सम्भावनाओं को तब तक सही जरीके से नहीं समझा जा सकता, जब तक हम शब्द ग्रहण की परम्परा का सूक्ष्मता से विश्लेषण नहीं करते।

शब्दों की परम्परा के अध्ययन के लिए आवश्यक है कि हम भाषा की मूलभूत अवधारणा को समझें, क्योंकि भाषा की समझ के अभाव में हम शब्द की अवधारणा और उसके अध्ययन को सही तरीके से नहीं समझ सकते। वास्तव में भाषा वह है, जिसके माध्यम से मनुष्य अपने भाव, विचार, अनुभूति को अभिव्यक्त करता है और अन्य लोगों की अभिव्यक्ति को सुनकर, पढ़कर और समझकर अपनी प्रतिक्रिया देता है। इस तरह भाषा से दो तरह के कार्य किए जाते हैं एक अपनी बात व्यक्त करना और दूसरा अन्यो की बात ग्रहण करना। इन दो तरह के कामों को एक साथ मिला दिया जाता है, तब इसको सम्प्रेषण या विचार-विनिमय कहा जाता है। भाषा के इस आधारभूत लक्षण की समझ के आधार पर ही हम भाषा के अवयवों का विश्लेषण कर सकते हैं। इस तथ्य को समझे बिना ही आज हम मनुष्यों को विभिन्न समूहों, समुदायों एवं वर्गों में विभाजित करने के लिए भाषा को ही एक मुख्य आधार मानने लगे हैं। यह ठीक है कि एक भाषा बोलने वालों में कुछ अपनत्व होना स्वाभाविक है, लेकिन हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि भाषा मूलतः अभिव्यक्ति का साधन है, साध्य नहीं। अतः भाषा की मूलभूत अवधारणा को ध्यान में रखते हुए यदि शब्द की स्थिति का विश्लेषण किया जाए तो इससे भाषा की समझ और उसके विकास में काफी सहयोग मिलेगा।

यदि भौतिक स्तर पर देखें तो वास्तव में जिसे हम भाषा कहते हैं, वह उच्चरित रूप में ध्वनियों की शृंखला है और लिपिवद्ध रूप में लिपि-चिह्नों की शृंखला। लेकिन

न तो ध्वनियाँ बहुत सारी हैं और न ही लिपिचिह्न। हिन्दी में हम अधिक-से-अधिक 50 ध्वनियों और इससे भी कम लिपि-चिह्नों का प्रयोग करते हैं। इन ध्वनियों और लिपि-चिह्नों को अलग-अलग तरीके से जोड़कर भाषा में हजारों शब्द और वाक्य बनाए जाते हैं। किसी भी सामान्य शब्द में 8-10 ध्वनियाँ होंगी या इतने ही लिपिचिह्न। लेकिन इनके माध्यम से हम दुनिया की कोई भी चीज, विचार, कल्पना आदि को व्यक्त कर सकते हैं। जैसे एक बड़ा जानवर है, लेकिन उसको केवल चार लिपि चिह्नों द्वारा व्यक्त कर सकते हैं, आ, थ, ई। इसके साथ अब शरीर का एक छोटा अंग लेंहाथ, इसमें भी चार ही लिपि चिह्न और ध्वनियाँ हैं, आ, थ, अ। इससे स्पष्ट है कि शब्द के आकार से पता नहीं चल सकता कि वह किसी बड़ी वस्तु के लिए है या किसी छोटी वस्तु के लिए। इतना ही नहीं, चार ध्वनियों से बने उक्त दो शब्दों का महत्त्व केवल इतना है कि वे दो वस्तुओं के बारे में सूचना देते हैं या उनका प्रतिनिधित्व करते हैं। इसलिए यह दोनों शब्द ही नहीं, भाषा के सभी शब्द प्रतीक हैं। हिन्दी जानने वाले सभी लोग 'हाथ' और 'हाथी' से एक प्रकार की सूचना प्राप्त करते हैं और अगर किसी को उस जानवर की या शरीर के उस अंग की बात करनी हो तो वे कहेंगे 'हाथी' और 'हाथ'।

शब्द को भाषा के अपरिहार्य घटक के रूप में विद्वानों ने मान्यता देते हुए इसको भाषायी गठन में अभिन्न अंग के रूप में स्वीकार किया है। शब्द भाषा की महत्त्वपूर्ण सार्थक इकाई है। भारतीय वैयाकरणों ने शब्द को सर्वोपरि इकाई के रूप में महत्ता प्रदान करते हुए स्वीकार किया है कि भाषा की सर्जनात्मकता का आधार शब्द ही है तथा कहा है कि शब्द ऐसे पूर्वचरित तत्त्व हैं, जिनके आधार पर बड़े से बड़े भाषायी खंड रचित होते हैं। आधुनिक भाषाविज्ञान के रूपविज्ञान और वाक्य-विज्ञान में शब्द की सत्ता को अपरिहार्य रूप से स्वीकार किया गया है। शब्द की आन्तरिक संरचना का अध्ययन रूप-विज्ञान में किया जाता है तो व्यवहार के धरातल पर प्रयुक्त शब्दों के पारस्परिक सम्बन्ध का अध्ययन वाक्य-विज्ञान में किया जाता है। वाक्य में प्रयुक्त शब्द का विश्लेषण करते हुए डॉ. मनोरमा गुप्त लिखती हैं कि वाक्यीय सन्दर्भ में शब्द केवल शब्द ही नहीं है, बल्कि वह विशिष्ट व्याकरणिक अभिलक्षणों एवं प्रकार्यों से युक्त होता है। इस तरह शब्द चर्चा के दो प्रमुख पक्ष हो सकते हैं एक आर्थी अथवा कोशीय पक्ष और दूसरा व्याकरणिक पक्ष, जिसका सम्बन्ध भाषाई प्रकार्यों से युक्त होता है। भाषा तथा पदार्थ जगत में कोई सीधा सम्बन्ध नहीं होता। यह सम्बन्ध विचार तथा संकल्पनाओं के माध्यम से गठित होता है। अतः शब्द की सत्ता उससे सम्बन्धित संकल्पना पर आधारित है। यह संकल्पना ही उस शब्द के अर्थ का द्योतक है। पामर के शब्दों में 'भाषा एक सम्प्रेषण व्यवस्था है जो सम्प्रेषणीय को सम्प्रेषक अथवा सम्प्रेषण माध्यम से जोड़ती है। सन्देशों को संकेतों से सम्बद्ध करती है।' स्पष्ट है कि भाषा में शब्द सन्देशों के वाहक हैं। अतः शब्द और अर्थ की सम्पृक्तता अक्षुण्ण

है। अर्थ का निर्धारण भाषा विशेष के सन्दर्भ में ही सम्भव है। इसे निरपेक्ष संकल्पना नहीं माना जा सकता।^{1,2} वास्तव में जिन ध्वनियों को सुनते और देखते हैं, वे शब्द हैं अर्थ नहीं। हम शब्द का अर्थ जानते हैं, लेकिन उसको सुन और देख नहीं सकते। इसको स्पष्ट करते हुए डॉ. मनोरमा गुप्त ने लिखा है, “मनोवैज्ञानिक शब्दावली में हम जिन ध्वनि/लिपि प्रतीकों को देखते हैं, सुनते हैं, वे शब्द हैं अर्थ नहीं। हम शब्द का अर्थ जानते हैं परन्तु उसे (अर्थ को) देख और सुन नहीं सकते। शब्द भौतिक घटनाओं से सम्बद्ध है, जबकि अर्थ शब्दों द्वारा द्योतित सूचनाओं से। शब्दों से द्योतित अर्थ ही उसकी संकल्पना है। यही कारण है कि विद्वानों ने शब्द तथा उसकी संकल्पना में अन्तर स्थापित किया है। संक्षेप में शब्द को संरचनात्मक द्योतन और अर्थ को संज्ञानात्मक द्योतन कह सकते हैं। शब्दों को पदार्थों का द्योतक माना गया है।”³ उनका मानना है कि शब्द के अर्थ का समग्र रूप से अध्ययन करना सम्भव नहीं है। इसका एक प्रमुख कारण यह है कि आर्थी व्यवस्था के अध्ययन सम्बन्धी उपागमों में पर्याप्त विविधता दृष्टिगत होती है। इतना ही नहीं, आर्थी सिद्धान्तों, विचारधाराओं तथा इनसे सम्बन्धित समस्याओं में भी बहुरूपता परिलक्षित होती है। वस्तुतः शब्द जितनी बार प्रयुक्त होता है उसके विविध अर्थ होते हैं। शब्दार्थ, उद्देश्य-सापेक्ष व्यवहार का एक अंग है। अतः इसका समुचित अध्ययन व्यवहार के सन्दर्भ में ही किया जा सकता है। शब्द का अर्थ न तो मूलतः पदार्थ है और न बिम्ब। अतः यह कहना अधिक समीचीन होगा कि शब्दार्थ वस्तुतः एक संकल्पना है। संकल्पना शब्द मूलतः एक सैद्धान्तिक प्रयोग है। किसी भी संकल्पना से अवगत होने के लिए उससे सम्बन्धित तथ्यों तथा संकल्पना विशेष का अन्य संकल्पनाओं से सम्बन्ध स्पष्ट करना आवश्यक है। संकल्पना का शब्द प्रतीकों से सम्बन्ध वस्तुतः शब्द-समूहों की सीमित एवं नियन्त्रित करने की एक प्रविधि है। यही शब्द अभिज्ञान की प्रक्रिया का मुख्य आधार बनता है।⁴

शब्द के अध्ययन और विश्लेषण को लेकर भारतीय एवं पाश्चात्य भाषाविदों ने अलग-अलग विचार दिए हैं। भारतीय चिन्तन परम्परा में कुछ विद्वान शब्द को नित्य मानते हुए स्फोट नाम देते हुए स्फोट के भेदों पर विस्तार से चर्चा करते हैं और बताते हैं कि ध्वनियों की अभिव्यक्ति के बाद ध्वनियाँ तो नष्ट हो जाती हैं, लेकिन स्फोट सदा एकरूप, निर्विकार या अपरिवर्तित रहता है, वह अखंड है, एक है; उसी से अर्थ का बोध होता है। लेकिन यह स्फोट ध्वनियों से व्यंजित होकर ही अर्थबोध का कारण बन सकता है। अतः ध्वनियाँ स्फोट की व्यंजना के लिए ग्राह्य हैं। मीमांसक शब्द को नित्य मानते हुए वेद प्रामाण्य की स्थापना के लिए शब्द नित्यतावाद को अपनाते हैं तो नैयायिक शब्द को प्रणाम के रूप में स्वीकार करते हुए ध्वन्यात्मक और अनित्य ही मानते हैं और इसे आकाश का गुण बताते हैं। जैन मत में शब्द को एक प्रकार का द्रव्य कहा गया है। दूसरी तरफ पश्चिमी भाषाविज्ञान या आधुनिक भाषा विज्ञान ने

भाषा की लघुतम सार्थक इकाई के रूप में रूपिम को स्वीकार करते हुए शब्द की अवधारणा को नकार दिया है।

भारतीय आचार्यों ने वाक् या भाषा का इतना व्यापक अध्ययन किया है कि भाषा के माध्यम से वे परमतत्त्व के क्षेत्र में पहुँच गए। शब्द को ही ब्रह्म के रूप में देखने-समझने की अन्तर्दृष्टि दिखलाई पड़ती है। भर्तृहरि ने कहा है-

*अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम् ।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ॥*

उनका कहना है कि शब्दतत्त्व ब्रह्म ही है। वह अनादि तथा अन्त से रहित है अनादि और अनन्त है; उत्पत्ति और विनाश से रहित है; वह अक्षर अर्थात् निर्विकार है। यही विवर्त के कारण अर्थ के रूप में भाषित होता है। विवर्त एक पारिभाषिक शब्द है वस्तु में जो वास्तविक विकार होता है उसे परिणाम कहते हैं; लेकिन जो विकार वास्तविक नहीं है उसे विवर्त कहते हैं। यह आरोपित है।

भारतीय चिन्तन में शब्द का व्यापक और सामान्य अर्थ है ध्वनि या नाद। हवा के बहने, पानी के गिरने, पक्षियों के कलरव, घंटा नाद, दरवाजा के खटखटाने आदि से होने वाली आवाज आदि ध्वनि या शब्द के कई रूप हैं। भाष्यकार पतंजलि ने ऐसी ध्वनियों को शब्द का अभिध्यय कहा है और उसे भाषा ध्वनि से अलगया है। शब्द का दूसरा अर्थ है भाषा ध्वनि, लेकिन यह सिर्फ ध्वनि तक सीमित नहीं है। वर्ण, प्रातिपादिक, पद और वाक्य तक कोपूरी भाषा को शब्द कहते हैं। **आप्तवाक्यं शब्दः** कहकर नैयायिकों ने पदों के समूह वाक्य को शब्द कहा है तो दूसरी तरफ **शक्तं पदम्** अर्थात् जिसमें शक्ति हो उसी को शब्द कहना चाहिए। भाष्यकार ने माना है कि जो संसार में दृश्यमान है वह शब्द नहीं है, वह तो द्रव्य है। इस तरह उन्होंने द्रव्य, गुण, क्रिया एवं जाति इन चारों को शब्द नहीं माना है। तब शब्द क्या है? (कस्तहि शब्दः?) के दो तरह से उत्तर दिए: पहला उत्तरयने उच्चारितेन सास्नालाङ्गूलककुदखुरविषाणिनां सम्प्रत्ययो रूपं भवति, स शब्दः। अर्थात् जिसका उच्चारण करने पर सास्नादियुक्त वस्तु का सम्प्रत्ययबोध होता है, वही शब्द है। दूसरा उत्तर-अथवा प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्द इत्युच्यते। ... तस्माद् ध्वनिः शब्दः। अर्थात् ‘अथवा पदार्थ की प्रतीति जिससे होती है, ऐसी ध्वनि को शब्द कहते हैं। यहाँ सास्नादि से तात्पर्य वस्तु के भौतिक या स्थूल स्वरूप से है।

सतही स्तर पर दोनों में भेद नहीं लगता है। पहले उत्तर के सम्प्रत्यय का अर्थ है बोध या ज्ञान। शब्द का उच्चारण वक्ता करता है। श्रोता उसे सुनकर अर्थ को समझता है अर्थ का बोध कराने के लिए ही शब्द का प्रयोग किया जाता है। उच्चारण ही प्रयोग है। वक्ता से उच्चरित जिस माध्यम से श्रोता को सास्नादि युक्त अर्थ का बोध होता है, वही शब्द है। दूसरे शब्दों में कहें तो अर्थ का बोध जिससे होता है, वह शब्द है या वाचक को शब्द कहते हैं। दूसरे, उत्तर प्रतीतपदार्थकः ध्वनिः; अर्थात् जिस

ध्वनि से पदार्थ का प्रत्यय-बोध होता है, लोक में ऐसी ध्वनि को शब्द कहते हैं। यहाँ भी वाचकता पर बल है। सम्भव है भाष्यकार ने पहले वाक्य में वाचक को शब्द माना है और दूसरे वाक्य में वाचक को ध्वनि बताया है। पाणिनी⁵ ने अपने सूत्रों से यह सिद्ध करके दिखाया कि जहाँ अर्थ का औचित्य और रूपसाम्य है वहाँ व्युत्पत्ति को स्वीकार करना योग्य है। किन्तु जहाँ अर्थ की उपपत्ति नहीं है वहाँ बलात् खींचातान करके व्युत्पत्ति दिखलाना व्यर्थ है। ऐसे शब्दों को अव्युत्पन्न मान लेना ही उचित है। अतएव पाणिनि ने प्रातिपादिक के लक्षण दो प्रकार के दिए हैं। एक लक्षण है कृततद्धित-समासाः च। (अष्टाध्यायी, 1-2-46) ये शब्द व्युत्पन्न हैं। कुछ कृदन्त या धातुज शब्द हैं; कुछ नामज हैं, तद्धितान्त हैं। कुछ तो दो या अधिक शब्दों के योग से बने हैं, इन्हें समास कहा जाता है। दूसरा लक्षण है अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपादिकम्। (अष्टाध्यायी, 1-2-45) जो शब्द धातु, प्रत्यय या प्रत्ययान्त नहीं हैं किन्तु अर्थवान हैं उन्हें भी प्रातिपादिक मानते हैं। इस लक्षण से पाणिनि स्वीकार करते हैं कि कई शब्द अव्युत्पन्न भी हैं। किसी-न-किसी धातु से कोई-न-कोई प्रत्यय जोड़कर किसी तरह लोप, आदेश आदि की व्यवस्था करके उनकी व्युत्पत्ति बताना अभीष्ट नहीं है। यही उनका अव्युत्पत्ति पक्ष है। व्युत्पत्ति के दुराग्रह से बचकर विवेकपूर्ण ढंग से शब्द की व्याख्या करना ही इस पक्ष का मर्म है।

परम्परागत व्याकरणिक सिद्धान्त शब्द को आधारभूत इकाई स्वीकार करते हुए उसी पर अपने व्याकरण का सम्पूर्ण ढाँचा खड़ा करता है। रूप-रचना और वाक्य-विन्यास दोनों के लिए वह सबसे पहले शब्द को भाषा की सैद्धान्तिक और सक्रियात्मक इकाई स्वीकार करता है और तब वह निर्देश देता है कि रूप-विज्ञान शब्द की आन्तरिक संरचना का अध्ययन करता है जबकि वाक्य-विज्ञान वाक्य में प्रयुक्त शब्दों के परस्पर सम्बन्ध नियोजनों का अध्ययन करता है। इस तरह रूप-विज्ञान अन्तर-शब्द रचना का और वाक्य विज्ञान अन्तर-शब्द-विन्यास का अध्ययन करता है।

आधुनिक भाषाविज्ञान की संरचनावादी धारा रूपिम को भाषा की लघुतम सार्थक इकाई के रूप में स्वीकार ही नहीं करता, अपितु रूपिम को केन्द्र में रखकर अपने सैद्धान्तिक एवं सक्रियात्मक संरचना का विकास करता है। रूपिम आधारित भाषा चिन्तन सबसे पहले परम्परा से चले आए शब्द जैसी संरचनात्मक इकाई को ने केवल नकारता है, अपितु भाषा चिन्तन में उसे सैद्धान्तिक दृष्टि से अग्राह्य और व्यावहारिक दृष्टि से अयथार्थ भी बतलाता है। इस तरह इस भाषा-चिन्तन ने शब्द को भाषा की सैद्धान्तिक इकाई मानने से इनकार कर दिया और बताया कि शब्द भाषा-विज्ञान की कोई सैद्धान्तिक इकाई नहीं हो सकती। संरचनावादी भाषा चिन्तन ने कहा कि अगर यह कोई इकाई है तो उसका स्थान उस लोक-भाषाविज्ञान (फोक-लिंग्विस्टिक्स) में है जो भाषा प्रयोक्ताओं की रुढ़िगत संकल्पनाओं को अपने अध्ययन का आधार बनाता है। (ग्रीनबर्ग, 1957:27) यही कारण है कि इस धारा के विभिन्न विद्वान शब्द की संकल्पना को उसकी प्रकृति

में विविधरूपी मानते हुए भाषायी विश्लेषण की दृष्टि से इसे पूर्णतः अनुपयुक्त सिद्ध करते हैं। (वैल्स, 1947)⁶ संरचनावादी चिन्तन ने जिस दृष्टि से “रूपिम” की संकल्पना को अपनी आधारभूत इकाई माना और जिसकी वैज्ञानिकता के सन्दर्भ में परम्परागत इकाई शब्द को अपने सैद्धान्तिक विवेचन से बाहर रखने की कोशिश की, वह भी शब्द इकाई का उचित विकल्प नहीं बन सका। लायन्स के अनुसार रूपिम भाषाविज्ञान का एक बहुप्रयुक्त पारिभाषिक इकाई है पर उसका प्रयोग अनेक सम्बद्ध सन्दर्भों में होता है, जो उसकी संकल्पना को निर्भ्रान्त नहीं रहने देता। उनके अनुसार शब्द की तरह रूपिम की संकल्पना भी बहुआयामी है और कई दृष्टियों से उसकी स्थिति भी भ्रम उत्पन्न करने की सम्भावना से परे नहीं है। (लायन्स, 1970:22) यहाँ पर यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि रूपवैज्ञानिक एवं वाक्यवैज्ञानिक तथ्यों की चर्चा करते समय परम्परागत वैयाकरण भाषाविश्लेषण के लिए शब्द-सापेक्ष दृष्टि का ही निर्वाह करते रहें। पर आधुनिक भाषाविज्ञान में प्रशिक्षित अनेक विद्वान हिन्दी भाषा के संरचना-विश्लेषण के समय अपनी बात रूपिम से आरम्भ करते और वाक्य पर समाप्त करते देखे जाते हैं।⁷

आधुनिक भाषाविज्ञान के चिन्तकों ने शब्द को एक भाषिक प्रतीक के रूप में परिभाषित करने की कोशिश की है। प्रतीक अपने से भिन्न किसी अन्य वस्तु, भाव, यथार्थ, व्यक्ति आदि की सूचना देता है और उसका प्रतिनिधित्व करता है। प्रतीक का अपना महत्त्व नहीं है, महत्त्व है उस वस्तु, व्यक्ति आदि का जिसके लिए वह प्रतीक माना गया है। एक प्रकार से फोटो या चित्र भी किसी व्यक्ति का प्रतीक है और उसका प्रतिनिधित्व करता है। राम के वन-गमन के बाद भरत ने उनकी चरण पादुकाओं को उनकी उपस्थिति का प्रतीक माना और उन्हें सिंहासन पर रखा। अयोध्या लौटने पर जब सीता को त्याग दिया गया तो अश्वमेध यज्ञ करते समय राम ने सीता की प्रतिमा को उसका प्रतीक माना। इससे स्पष्ट है कि प्रतीक किसी भी प्रकार का हो सकता है। यह भी आवश्यक नहीं है कि वस्तु या व्यक्ति आदि में तथा उनके प्रतीक में कोई साम्य हो, या प्रतीक से वस्तु या व्यक्ति को पहचाना जा सके। महत्त्वपूर्ण यह है कि किसी चीज को किसी अन्य चीज का प्रतीक मान लिया जाए और सब लोग उसी रूप में स्वीकार कर लें।⁸ शब्द को एक भाषिक प्रतीक माना गया है। इससे सम्बद्ध तीन पक्षों पर आधारित तीन दृष्टिकोणों से चर्चा की जा सकती है

1. संकेतित अथवा कथ्य (अर्थविज्ञान)
2. संकेतक अथवा अभिव्यक्ति (स्वन-प्रक्रियात्मक/लेख) तथा
3. संकेतन अथवा प्रकार्य (वाक्यीय एवं व्याकरणिक)।

भाषिक प्रतीक के ये तीनों पक्ष शब्द के धरातल पर परस्पर सम्बन्धित इकाई हैं। पामर ने शब्द को परिभाषित करते हुए उसे एक विशिष्ट भाषाई व्यापार से उत्पन्न इकाई माना है, जो मूल प्रकृति में अपने माध्यम के किसी दबाव से नियन्त्रित नहीं होती। श्रोता वाक्य में शब्द की इकाइयों को अलग-अलग पहचानता है। इसका अधार

केवल ध्वनि माध्यम ही नहीं है, बल्कि उसका भाषायी बोध है, जो भाषिक क्षमता के रूप में उसमें अवस्थित रहा है। भाषा प्रयोक्ता-वक्ता तथा श्रोता भाषार्थ क्रिया में शब्द सम्बन्धी इसी भाषिक क्षमता का परिचय देते हैं। इसी भाषिक क्षमता के फलस्वरूप वे स्वनिक् विकल्पवत शब्दों की वास्तविक प्रकृति को पहचान लेते हैं और भाई/भइया, बहन/बहिन को एक ही शब्द के रूप में ग्रहण करते हैं। इसी तरह प्रकार्यात्मक शब्दों के सन्दर्भ में भी वह तब ही/तभी, उन्हें/उनको दोनों को ही एक शब्द के रूप में स्वीकार करते हैं।⁹

शब्द हमारे ज्ञान प्राप्त करने तथा व्यक्त करने का एकमात्र साधन है। वह ज्ञान चाहे प्रत्यक्षण द्वारा ही अथवा बोध द्वारा। प्रत्यक्ष अपनी प्रकृति में क्षणिक होते हैं। स्पर्श, गन्ध स्वाद, दृश्य को हम प्रत्यक्षण द्वारा प्राप्त करते हैं और शब्द द्वारा उन्हें स्थायी बनाते हैं। इसीलिए असंख्य अनुभूतियों के लिए शब्दों की तलाश तथा नए शब्दों की रचना की प्रक्रिया सदैव चलती रहती है। अनुभूतियों में व्यक्तिनिष्ठता की मात्रा बहुत अधिक होती है और उन्हें किस प्रकार वस्तुनिष्ठ बनाया जाता है, इसका उदाहरण गन्ध की अनुभूति के शब्द हैं। आधारभूत रंगों की भाँति आधारभूत गन्ध की शब्दावली नहीं है। इसीलिए गन्ध के नामों को वस्तुओं के द्वारा संकेतित किया जाता है। उदाहरण के लिए, अनुकूल गन्ध के लिए 'मिट्टी की सोंधी गन्ध', 'आम के बौरों की गन्ध', 'इत्र की खुशबू' आदि शब्द प्रयोग किए जाते हैं, प्रतिकूल गन्ध के लिए 'सीलन की गन्ध', 'पसीने की बू' आदि। इन अनुभवों की स्थायी बनाने के लिए मिट्टी, आमों की बौर, इत्र, सीलन, पसीना वस्तुओं के संकेतक लाए गए हैं। इनके बिना अनुभवों के प्रत्यक्ष को स्थायी नहीं बनाया जा सकता है।¹⁰

शब्द के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो गया कि शब्द को देखने के कई आयाम हैं। विभिन्न आयामों से शब्द को देखने के पश्चात् यह बात साफ हो जाती है कि शब्द की भाषिक उपस्थिति के इनकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि वाक्य में प्रयुक्त रूपों की आधारभूत इकाई की हैसियत से शब्दों को स्वीकार ही करना होगा। अन्यथा की स्थिति में भाषा की अभिव्यक्ति को समझना कठिन होगा। शब्द से आशय भाषा की अभिव्यक्ति में सहयोगी उस भाषिक संरचना से है, जिसका उच्चारण मानव वागेन्द्रियों से होता है और जिसके माध्यम से अर्थ का सम्प्रेषण होता है। हम सभी जानते हैं कि भाषा के आरम्भिक शिक्षण के समय सबसे पहले शिक्षार्थी को ध्वनि के बाद शब्दों का ही ज्ञान कराया जाता है और कई बार हम किसी भाषा के व्याकरण एवं नियमों को जानते हुए भी उसका उचित प्रयोग नहीं कर पाते हैं, क्योंकि हमारे पास उस भाषा के शब्द का ज्ञान नहीं होता। जिस भाषा के शब्दों से हम अधिक परिचित होते हैं, उस भाषा का हम सही और सफल प्रयोग कर पाते हैं। इस तरह से स्पष्ट है कि बिना शब्दों की समृद्धि के किसी भी भाषा को समृद्ध भाषा नहीं कह सकते हैं। यही कारण है कि भाषा में शब्दों के ग्रहण की प्रक्रिया अनवरत जारी रहती है।

विकास की प्रक्रिया में भाषा कुछ नए शब्दों को ग्रहण करती है और प्रयोग से बाहर हो चुके कुछ शब्दों को छोड़ती है। अतः किसी भी भाषा के शब्दों की परम्परा के अध्ययन का ही मतलब होता है, उसमें शब्दों के ग्रहण की प्रक्रिया का अध्ययन। हिन्दी भाषा की शब्द परम्परा का अध्ययन करने से पहले यह आवश्यक हो जाता है कि हिन्दी भाषा के शब्द-भंडार की प्रकृति का अध्ययन किया जाए। हिन्दी भाषा के शब्द-भंडार को हम चार प्रमुख भागों में विभाजित करते हैं

1. तत्सम शब्द।
2. तद्भव शब्द।
3. देशज शब्द।
4. आगत शब्द।

हिन्दी के शब्दों की उपर्युक्त प्रकृति को और अधिक स्पष्ट करते हुए प्रतीक व्यवस्था और उसके ग्रहण आदि की चर्चा करते हुए डॉ. सुधा कालरा¹¹ ने बताया है कि शब्द-प्रतीक कई प्रकार से बनते और ग्रहण होते हैं। समय के किसी बिन्दु पर जब भाषा को देखते हैं तो पता चलता है कि प्रतीक कई स्रोतों से आए हैं :

* कुछ प्रतीक परम्परा से प्राप्त होते हैं और उनका रूप अक्षुण्ण रहता है अर्थात् परिवर्तित नहीं होता। हिन्दी में ऐसे शब्द-प्रतीकों को तत्सम शब्द कहते हैं। ये जिस रूप में संस्कृत में थे, वैसे ही हिन्दी में प्रयुक्त होते हैं। जैसेकर्म, धर्म, कृष्ण सत्य आदि।

* कुछ प्रतीक परम्परा से तो मिलते हैं किन्तु उनका रूप बदल जाता है। हिन्दी में ऐसे प्रतीकों को तद्भव शब्द कहा जाता है। जैसेचाँद, काम, आठ, काठ आदि।

* कुछ प्रतीक अन्य भाषाओं से भी आ जाते हैं। हर देश, राज्य, प्रांत आदि में बाहर से लोग आ जाते हैं। कुछ लोग लम्बे समय के लिए बाहर रहकर लौट आते हैं। कई पड़ोसी देशों से व्यापार आदि के कारण लोग आपस में मिलते-जुलते हैं। इस प्रक्रिया में वस्तुओं और व्यक्तियों के आवागमन और आदान-प्रदान के अतिरिक्त भाषा के विभिन्न अंगों का भी लेन-देन होता है, विशेष रूप से शब्दों का। जब कोई देश या प्रान्त किसी अन्य देश या प्रान्त की वस्तुएँ प्रयोग करने लगता है तो आमतौर पर उनको उसी नाम से पुकारता है जिसमें वे अपने देश या प्रान्त में पुकारे जाते थे। ऐसे कई शब्द दूसरी भाषा में आ जाते हैं और धीरे-धीरे इतने रम जाते हैं कि कुछ वर्षों के बाद यह पहचानना कठिन हो जाता है कि अमुक शब्द अपनी भाषा का नहीं है। हिन्दी में अँग्रेजी, अरबी-फारसी, तुर्की आदि से ही नहीं, भारतीय भाषाओं से भी कई शब्द आ गए हैं। दोसा, इडली, रसम, सॉभर, पञ्जी, सन्देश, भेलपूरी आदि प्रतीक शब्द अन्य भारतीय भाषाओं से आए हैं। आवश्यकता पड़ने पर भाषा में नए प्रतीक बना भी लिये जाते हैं। जैसेहिन्दी में 25-30 वर्षों में कई हजार पारिभाषिक शब्द बने हैं।

यहाँ तत्सम, तद्भव एवं आगत शब्दों की बात की गई है, जबकि बहुत सारे शब्द लोक या स्थानीय स्तर पर ग्रहण किए जाते हैं, जिनको देशज शब्दों की श्रेणी में

रखा जाता है। आगत शब्दों के तहत हम विदेशी और भारतीय भाषाओं से ग्रहण किए गए शब्दों को रखते हैं। वास्तव में यदि आगत शब्द को व्यापक अर्थ में लिया जाए तो हिन्दी के सभी शब्द आगत की श्रेणी में आ जाएँगे, लेकिन यहाँ पर आगत शब्द का प्रयोग सीमित अर्थ में प्रयुक्त हुआ है और लोक में प्रचलित भी है।

किसी भी भाषा में अपनी वस्तुओं विचारों-व्यक्तियों आदि के अपने शब्द-प्रतीकों के अतिरिक्त कई अन्य स्रोतों से भी प्रतीक आ जाते हैं। इसके फलस्वरूप एक ही वस्तु या व्यक्ति या प्राणी के लिए एक से अधिक प्रतीक हो सकते हैं। हिन्दी में कुछ उदाहरण देखें—मुस्तककिताब, आदमीपुरुष, नभआकाश, फूलसुमनपुष्प, कमलपंकजजलजराजीव आदि। भाषा में इसके विपरीत स्थिति भी सम्भव है, अर्थात् एक ही प्रतीक से दो या अधिक वस्तुओं, व्यक्तियों आदि की सूचना मिलती है। यह स्थिति भी भाषा में स्थान और काल में हुए परिवर्तनों के कारण होती है। हिन्दी में उदाहरण के लिए आया के एक अर्थ में आ क्रिया है तो दूसरा अर्थ नौकरानी है। हार से एक अर्थ माला तो दूसरा अर्थ 'न जीतना' अभिव्यक्त होता है। मन का एक अर्थ दिल है तो दूसरा चालीस सेर आदि।

यदि किसी वस्तु या व्यक्ति या प्राणी की आवश्यकता न रहे, या नष्ट हो जाए तो उसका प्रतीक भी लुप्त हो जाता है। हिन्दी में धेला, दुअन्नी, चवन्नी आदि शब्द नहीं चलते, क्योंकि ये सिक्के चलने बन्द हो गए हैं। कई बार फैशन के कारण भी किसी प्रतीक को प्रधानता मिल जाती है।

भाषा के इस लक्षण चर्चा से स्पष्ट हो गया कि भाषा में कई प्रकार के प्रतीकों का प्रयोग किया जाता है और इनका काम है वस्तुओं, व्यक्तियों, स्थानों, विचारों आदि की सूचना देना। इन प्रतीकों का प्रयोग करते हुए किसी भाषा को बोलनेवाला अपनी बात को व्यक्त करता है, अपना सन्देश दूसरों तक पहुँचाता है और अन्य लोगों का सन्देश ग्रहण करता है।¹²

हिन्दी शब्द विविध स्रोतों से आए हैं और उन शब्दों में अपनी प्रकृति के अनुरूप हिन्दीभाषी समाज ने ध्वनि और अर्थ के स्तर पर परिवर्तन भी किए हैं। शब्दों को अपनी प्रकृति के अनुसार अनुकूलन करने की प्रक्रिया को हम तत्सम, तद्भव एवं देशज शब्दों में उतनी स्पष्टता से नहीं देख सकते, जितनी स्पष्टता से विदेशी शब्दों के ग्रहण करने में देख सकते हैं, क्योंकि ये हिन्दीभाषी समाज की प्रकृति से पहले से ही काफी अनुकूलित रहते हैं। विदेश भाषा के शब्दों के उच्चारण की प्रकृति उनसे भिन्न होती है, इसलिए ऐसे शब्दों में अनुकूलन का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। उदाहरण के लिए 'स्टेशन' और 'स्कूल' शब्द को लें तो हम पाते हैं कि इन दोनों शब्दों का उच्चारण हिन्दी में एक तरफ 'इसटेशन' के रूप में होता है, तो दूसरी तरफ 'सटेशन' एवं 'इसकूल' या 'सकूल' के रूप में। इसी तरह से अन्य अनेक शब्दों के सन्दर्भ में भी देखा जा सकता है। 'टैंक' शब्द का अनुकूलन 'टंकी' के रूप में हुआ और इस शब्द का हिन्दी में धड़ल्ले से प्रयोग किया जा रहा है। इसी तरह से अर्थ के

स्तर पर अनुकूलन को देखा जाए तो बहुत से शब्दों को हिन्दी में स्वीकार किया गया, लेकिन उसके अर्थ में परिवर्तन हो गया। जैसे आकाशवाणी शब्द का अर्थ देववाणी था, लेकिन हम सभी जानते हैं कि आज इसका प्रयोग आल इंडिया रेडियो के लिए किया जा रहा है, जो नया अर्थ है। तिजोरी शब्द मूलतः अँग्रेजी ट्रेजरी (खजाना) से अनुकूलित है, जिसकी ध्वनि में ही अनुकूलन नहीं हुआ, अपितु अर्थ में भी परिवर्तित हुआ और अब हिन्दी में उसका अर्थ 'लोहे के मजबूत बाक्स' के लिए किया जा रहा है। शब्द अपने मूल अर्थ परिवर्तित अर्थ में किसी दूसरी भाषा में प्रयुक्त हो रहा है, क्योंकि शब्दों में अर्थ की संकल्पना को निर्धारित करनेवाला लोक होता है। लोक में स्वीकार्यता के अभाव में सब कुछ निरर्थक ही है। प्रसिद्ध भाषाविद् कृष्णस्वामी अय्यंगर लिखते हैं कि "किस शब्द का क्या अर्थ है? इसका निर्णय राजाज्ञा से नहीं होता। किन्तु शक्ति का निर्णय लोकव्यवहार पर ही आधारित है। यही शक्तिग्राहक प्रमाणों में प्रथम माना जाता है। व्याकरण और कोश इसी के अनुगामी हैं। वैयाकरण या कोशकार लोकव्यवहार का अध्ययन करके ही प्रामाणिकत्व को पा सकता है। यह लोकव्यवहार संस्कृत की तरह अन्य भाषाओं में भी अबाधित है। किसी भाषा का प्रचार अधिक है, किसी का कम है, किसी में अपार साहित्य भंडार है, तो किसी में अपेक्षाकृत कम। लेकिन इससे उस भाषा के शब्दों की वाचकता, अर्थप्रतिपादन-शक्ति, योग्यता और साधुता में कोई अन्तर नहीं आ सकता।"¹³

हिन्दी में शब्दों की परम्परा को समझने के लिए उसके शब्दों के ग्रहण एवं निर्माण की परम्परा को समझना अनिवार्य हो जाता है। यदि शब्दों के ग्रहण की परम्परा को देखें तो तत्सम, तद्भव, देशज और आगत शब्दों के अतिरिक्त हिन्दी में बहुत से शब्दों का निर्माण समाज में व्यवहार के माध्यम से किया गया है। जैसे सादृश्यता के आधार पर हिन्दी ने बहुत से शब्दों को ग्रहण किया और पुनरुक्ति के आधार पर भी हिन्दी ने बहुत सारे शब्दों का निर्माण करके अपने शब्द भंडार का हिस्सा बनाया। उदाहरण के लिए तीन नाड़ियाँ इला, पिंगला और सुषुम्ना हैं, लेकिन मध्यकाल में पिंगला शब्द के सादृश्य के आधार पर इंगला शब्द बन गया और यही शब्द इला के स्थान पर चल रहा है। जैसे 'इंगला पिंगला सुषुम्ना नाड़ी, तीन तार से बीनी चदरिया। (कबीर) इसी तरह से 'देहाती' के सादृश्यता पर 'शहराती' शब्द बन गया। इसी तरह से पुनरुक्तियों की संरचना को देखें तो हिन्दी में टुकड़े-टुकड़े, घर-घर, अपना कोई-कोई आदि जैसे शब्दों का निर्माण किया गया है। अनुकरणत्मकता के आधार पर भी हिन्दी में बहुत से शब्दों की रचना की गई है। जैसे खटपट, गुटुर-गुटर, टप-टप, डकार, फटफटिया आदि।

इस तरह से हिन्दी की शब्द परम्परा के अध्ययन की सुविधा के लिए हम उसके स्रोतों को चार भागों में क्रमशः तत्सम, तद्भव, देशज और आगत में विभाजित कर सकते हैं, लेकिन उनके ग्रहण की परम्परा अथवा प्रक्रिया को तीन तरह से समझ सकते हैं—पहला, स्रोत से हुबहू शब्द का ग्रहण, जैसे कर्म, खटखट टनटन आदि। दूसरा, स्रोत

से अनुकूलन के माध्यम से शब्द को ग्रहण करना, जैसेट्रेजरी (अँग्रेजी) का अनुकूलन करके तिजोरी शब्द के रूप में ग्रहण। तीसरा, उपसर्ग, प्रत्यय, समास, सादृश्यता, अनुकरणात्मकता, पुनरुक्ति आदि के माध्यम से शब्द का निर्माण करके उसको ग्रहण करना, जैसेभूँ-भूँ शब्द से भौंकना शब्द का निर्माण करके हिन्दी में ग्रहण किया गया। ठीक वैसे ही घुमक्कड़ की तरह पियक्कड़, बतक्कड़ आदि; खट-खट से खटखटाना आदि का निर्माण करके शब्द को ग्रहण करना। इस तरह से शब्दों के ग्रहण करने की ये तीन प्रवृत्तियाँ या दिशाएँ हिन्दी में देखने को मिलती हैं।

हिन्दी के शब्दों की प्रकृति को देखकर स्पष्ट हो जाता है कि आजकल शब्द मूलतः तीन स्रोतों से अधिक मात्रा में आ रहे हैं, वे हैंतत्सम, देशज और आगत। तद्भव परम्परा से शब्दों के ग्रहण एक सीमा तक ही किया जाता है और वह परम्परा भाषा के प्रारम्भिक अवस्था में अधिक होती है और बाद में यदि इस परम्परा के शब्द ग्रहण भी किए जाते हैं तो वे लोक या समाज से ग्रहण किए जाने के कारण उनका अध्ययन देशज परम्परा के तहत किया जाता है। आज के वैज्ञानिक एवं सूचना विस्फोट के युग में तत्सम परम्परा से शब्दों को कम ही मात्रा में ग्रहण किया जा रहा है। इनका स्थान देशज और आगत शब्द-स्रोतों ने ले लिया है। वर्तमान सूचना युग में एक तरफ विज्ञान की नित्-नवीन खोजों के कारण तकनीकी शब्दावल्याँ बहुतायत में आ रही हैं तो मानवीकी एवं सामाजिक अनुसन्धानों के फलस्वरूप देशज परम्परा के शब्दों का महत्त्व भी तेजी से बढ़ रहा है। वैसे हिन्दी भाषा के भविष्य पर बोलते हुए प्रसिद्ध साहित्यकार डॉ. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी ने कहा है कि हिन्दी का भविष्य परिधि पर जीनेवाले अथवा आम लोगों की बोलचाल की भाषा में ही सम्भव है, क्योंकि पढ़े-लिखे लोगों की जबान को भाषा तोड़ देती और आम आदमी की जबान भाषा की संरचनाओं को तोड़ देती है। अतः हिन्दी की शब्द परम्परा का अध्ययन करते हुए आवश्यक हो जाता है, कि आनेवाले समय की चुनौतियों को देखते हुए शब्द ग्रहण और निर्माण की पूरी प्रक्रिया के साथ ही भविष्य की सम्भावनाओं पर भी चर्चा अवश्य की जाए। इसी दृष्टि से शब्द ग्रहण एवं निर्माण की कुछ प्रमुख बातों की चर्चा यहाँ की जा रही है।

अनुकूलन एवं शब्द-रचना के माध्यम से ही वर्तमान समय की चुनौतियों का सामना किया जा सकता है। अनुकूलन की प्रक्रिया मूलतः आगत शब्द यानी विदेशी एवं भारतीय भाषाओं के शब्दों के ग्रहण के समय आवश्यक हो जाती है। उदाहरण के लिए हिन्दी ने पुर्तगाली भाषा सेतौलिया, बिस्कुट, लालटेन, पावरोटी, गमला, पिस्तौल, बोटल आदि शब्द लिये हैं जिनको आम जनता ने ग्रहण किया और अनजाने से अनुकरण की अपूर्णता से उनका अनुकूलन हो गया। इसी तरह अरबी से अदालत, इम्तिहान, एतराज, औरत, तनखाह, तारीख, मुकदमा, सिफारिश, हाल आदि; फारसी से आदमी, उम्मेदवार, कमर, खर्च, गुलाब, चश्मा, चाकू, चापलूस, दाग, दुकान, बाग,

मोजा आदि; तुर्की भाषा से तमगा, तोप, लाश, चकमक आदि; अँग्रेजी से इंच, कमेटी, कोट, गिलास, पतलून, मील, रेल, स्कूल, डॉक्टर आदि शब्द लिये गए हैं। भारतीय भाषाओं से भी शब्द ग्रहण किए गए हैं जैसेमराठी से प्रगति, लागू, चालू, बाड़ा, बाजू आदि। बंगला से उपन्यास, चुड़ान्त गल्प, नितान्त, भद्रलोग आदि। जब से पारिभाषिक शब्द बनाए जाने लगे हैं, तब तो कुछ अँग्रेजी शब्दों को जानबूझकर अनुकूलित किया गया। जैसे टेक्नोलॉजी, कॉमेडी, ट्रेजडी आदि शब्दों का अनुकूलन करने के बाद तकनीकी, कामदी, त्रासदी आदि शब्द ग्रहण किया गया।

शब्द रचना करके शब्द ग्रहण करने की प्रवृत्ति का अध्ययन करें तो इसके कई स्तर हैं, जिनमें से कुछ की चर्चा यहाँ की जाएगी। हिन्दी में शब्द रचना करने के लिए उपसर्ग, प्रत्यय एवं समास का सहारा लिया जाता है। विभिन्न स्रोतों से लिये गए शब्दों के साथ उपसर्ग एवं प्रत्यय लगाकर शब्द बनाए जाते हैं। समास में भी विभिन्न स्रोतों से लिये शब्दों का उपयोग करके नए-नए शब्दों की रचना की जाती है। इस तरह कई संकर शब्दों का निर्माण होता है, लेकिन ऐसे संकर शब्द भी भाषा को न केवल समृद्ध करते, अपितु सम्प्रेषणीयता को भी सुगम बनाते हैं। इस तरह से संकर शब्दों की हिन्दी भाषा में सम्प्रेषणीयता की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण भूमिका है। इसके अतिरिक्त तीन अन्य स्तरों पर शब्दों की रचना की जाती है

1. सादृश्यता के आधार पर शब्द निर्माण।
2. पुनरुक्ति के आधार पर शब्द निर्माण।
3. अनुकरणात्मकता के आधार पर शब्द निर्माण।

सादृश्य के आधार पर शब्द निर्माण करके हिन्दी में शब्द ग्रहण करने की परम्परा मिलती है। उदाहरण के लिए बरात से बराती के सादृश्य के आधार पर घर के लोगों के लिए घराती शब्द की रचना की गई और हिन्दी के काफी बड़े हिस्से में विवाह के अवसर पर इस शब्द का प्रयोग किया जाता है। कुछ क्षेत्रों में लोगों ने बराती के सादृश्य पर सराती शब्द की रचना की, जिसका प्रयोग बेटी के घर पर आए ऐसे अतिथियों के लिए किया जाता है, जो न बराती हैं और न ही घराती। इसी तरह देहाती की सादृश्यता के आधार पर हिन्दी के कई क्षेत्रों में लोगों ने शहर से शहराती शब्द का निर्माण कर लिया। डॉ. भोलानाथ तिवारी ने लिखा है कि “संस्कृत में एक है ‘सुखकेलि’ जो प्राकृतों में ‘सुखेल’ हो गया तथा हिन्दी में ‘सुहेल’। हिन्दी जनता ने ‘सुहेल’, के सादृश्य पर ‘दुहेल’ शब्द बना लिया, जिसका अर्थ संज्ञा रूप में दुःख तथा विशेषण रूप में कठिन, दुःखदायी आदि है। मध्यकाल में दुहेल, दुहेला, दुहेली, शब्द खूब चलते थे। जैसे

पदमावति जग रूपमनि कहँ लगी कहीं दुहेल।	जायसी
भलेहि पेम है कठिन दुहेला।	जायसी
कहेसि कस न तुम्ह होहु दुहेली।	जायसी
उछड़ि पड़े जब आँखि मैं, खरा दुहेला होइ।	कवीर

हिन्दी में प्रायः सभी कोशों में संस्कृत 'दुर्हेल' से 'दुहेल' को उद्भूत कहा गया है, किन्तु वास्तविकता यह है कि संस्कृत में 'दुर्हेल' कोई शब्द नहीं है। संस्कृत में 'सुखकेलि' का प्रयोग है, जिसका अर्थ है, 'सुख से किया जाने वाला खेल' अर्थात्, सरल काम या जो काम कठिन अथवा कष्टप्रद न हो। इससे निकला शब्द 'सुहेल' मध्यकाल में मिलता है तथा कोशों (जैसे संक्षिप्त हिन्दी शब्द सागर) में है भी, उसी के आधार पर 'दुहेला' बना है।¹⁴ गैस शब्द के निर्माता तथा इसके प्रथम प्रयोक्ता हालैंड निवासी प्रसिद्ध भौतिकशास्त्री फान हेलमोंट ने अपनी डायरी में लिखा है कि 'केआस' (Chaos) शब्द के सादृश्य पर इस वायव्य वस्तु के लिए उनके मन में 'गैस' शब्द उभरा था।¹⁵ रंगों के नामों के लिए फारसी की अंगूरी एवं गुलाबी की तर्ज पर हिन्दी में कपूरी, धानी, बैंगनी, जामुनी आदि शब्द बनाया गया, तो फारसी शब्दों से बादामी, आसमानी, प्याजी, खाकी, तरबूजी, फीरोजी शब्द बनाए गए; अँग्रेजी शब्दों से चाकलेटी, स्लेटी और पुर्तगाली शब्द टमाटर से टमाटरी आदि शब्दों का निर्माण किया गया है।

हिन्दी भाषा में धातुओं के साथ ही संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण आदि शब्दों से भी क्रिया-रूपों का निर्माण किया गया है। संज्ञा शब्दों क्रमशः फिल्म से फिल्माना, शर्म से शर्माना, बात से बतियाना, लात से लतियाना, थप्पड़ से थपड़ियाना; सर्वनाम शब्द अपना से अपनाना; विशेषण शब्द चिकना से चिकनाना, ध्वन्यात्मक शब्द खटखट से खटखटाना, भड़भड़ से भड़भड़ाना आदि शब्दों की रचना सादृश्य के आधार पर करने से हिन्दी की शब्द सम्पदा समृद्ध हुई। एक रोचक प्रसंग की चर्चा यहाँ प्रासंगिक है मराठी तथा कोंकणी में एक पुराना शब्द 'बिठोबा' (बिट्ठल) है, उसी के आधार पर एक व्यक्ति का नाम रखा गया है, 'पंजोबा' यह व्यक्ति गाँधी जी के साबरमती आश्रम में रहता था। आश्रम में एक-दूसरे व्यक्ति 'विनायक' आए। गाँधी जी 'पंजोबा' के आधार पर इस व्यक्ति को 'विनायक' की जगह 'विनोबा' कहने लगे। आगे चलकर यही प्रसिद्ध भूदानी नेता 'विनोबा भावे' बने।¹⁶

पुनरुक्ति के आधार पर शब्द निर्माण करके हिन्दी शब्द सम्पदा को समृद्ध और अभिव्यक्ति को सहज एवं सुगम बनाया गया। पुनरुक्ति से अभिप्राय है दोहराना। जब कोई शब्द बिना परिवर्तन अथवा अल्प-परिवर्तन या पर्याय के साथ दोहराया जाता है तो यह प्रक्रिया पुनरुक्ति कहलाती है। इससे प्रसंगानुसार पूर्णता, अपूर्णता, निरन्तरता, अतिशयता, सजातीयता, पृथकता आदि का बोध होता है। इसमें ध्वनि की दृष्टि से साम्य (घर-घर), लगभग समान (दाल-वाल) अथवा अर्थ की दृष्टि से समान (लाज-शर्मा), समवर्गीय (भूख-प्यास) या विलोम (अच्छा-बुरा) शब्दों के माध्यम से नए शब्दों की रचना की जाती है। उदाहरण के लिए संज्ञा शब्दों की पुनरुक्ति से क्रमशः रग-रग, शहर-शहर, झिक-झिक, चोरी-चोरी आदि शब्द रचनाएँ बनती हैं, तो सर्वनाम शब्दों की पुनरुक्ति से क्रमशः मैं-मैं, तू-तू, अपना-अपना, जिस-जिस, किसी-किसी आदि शब्दों

का निर्माण होता है। विशेषण शब्दों की पुनरुक्ति से क्रमशः अच्छे-अच्छे, काले-काले, गरम-गरम, एक-एक, आधा-आधा, थोड़ा-थोड़ा आदि शब्द बने हैं; क्रिया शब्दों की पुनरुक्ति से क्रमशः चल-चल, देख-देख, मारता-मारता, बैठा-बैठा, सोया-सोया आदि शब्द निर्मित हुए हैं। इसी तरह अव्यय शब्दों की पुनरुक्ति से क्रमशः कहाँ-कहाँ, अंदर-अंदर, नीचे-नीचे, भीतर-भीतर, हाय-हाय, वाह-वाह आदि शब्दों का निर्माण हुआ है। इस तरह से पुनरुक्ति के माध्यम से भी हिन्दी में बहुत से शब्दों की रचना हो रही है और आनेवाले समय में भी इस तकनीकी का प्रयोग करके नवीन तरह की अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के लिए शब्दों की रचना की जा सकती है।

अनुकरणात्मकता के आधार पर भी हिन्दी में शब्दों की रचना की जाती है। सामान्यतया अनुकरणात्मक शब्दों को मात्र स्थूल अभिव्यक्ति के लिए ही प्रयोग किया जाता रहा है और सूक्ष्म अभिव्यक्ति के लिए इसके प्रयोग को उचित नहीं माना जाता रहा। वास्तव में क्रिया-व्यापार से उत्पन्न ध्वनि के अनुकरण पर निर्मित इन शब्दों में से अनेक ऐसे हैं, जो विभिन्न सूक्ष्म अभिव्यक्तियों में प्रयुक्त होते हैं और अर्थ को सहजता एवं सजीवता के साथ अभिव्यक्त करते हैं। हिन्दी में प्रचलित चमकना, झिझकना, भड़कना, झपकना, सकपकाना आदि शब्द अपने वर्तमान विकसित रूप में अनुकरणात्मक नहीं लगते, जबकि इनकी संरचना से अनुकरणात्मकता का संकेत मिल जाता है। हिन्दी में अनुकरणात्मक शब्दों की संख्या तीन हजार से अधिक है। यदि बोलचाल और बोलियों को भी सम्मिलित कर लिया जाए तो इनकी संख्या और बढ़ सकती है। संरचना के आधार पर अनुकरणात्मक शब्दों की दो श्रेणियाँ मिलती हैं पहला जिनके एकाधिक रूप मिलते हैं और इनसे अन्य शब्दों की रचना होती है। दूसरी श्रेणी ऐसे शब्दों की है, जिनके एकाधिक रूप नहीं मिलते हैं और ये मूलतः अपने क्रिया-व्यापार के ध्वन्यात्मक अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं। इस श्रेणी के शब्दों से अन्य शब्दों की रचना फिलहाल नहीं हो रही है, लेकिन भविष्य में इसकी सम्भावना है, ठीक वैसे ही जैसे भों-भों से भौंकना शब्द की रचना हुई। उदाहरण के लिए, इस श्रेणी के कुछ शब्द हैंकाँव-काँव, चूँ-चूँ, गुटर-गूँ आदि। जिन अनुकरणात्मक शब्दों से नए शब्दों की रचना होती है, उन पर चर्चा आवश्यक है, क्योंकि इनसे आनेवाले समय की चुनौतियों का सामना किया जा सकता है। शब्द है खटखट और इससे बना हुआ शब्द है खटखटाना, खटखटाहट, खटाखट। इसी तरह चटचट शब्द से बने हुए नए शब्द हैंचटचटाना, चटचटाहट आदि। अनुकरणात्मक शब्द है खरखर और इससे निर्मित शब्द हैखरटाटा, खरखराहट। इन अनुकरणात्मक शब्दों में उपसर्ग और प्रत्यय के योग से नए-नए शब्दों का निर्माण किया जा सकता है।

हिन्दी में तकनीकी शब्दावली-निर्माण के साथ ही भाषाओं के अन्य शब्दों को अनुकूलन के माध्यम से ग्रहण करना होगा, तभी हिन्दी ज्ञान की विविध विधाओं को अभिव्यक्त करने में सक्षम हो सकेगी। हिन्दी भाषा में जब तक तमाम नवीन ज्ञान को

अभिव्यक्त करने की क्षमता नहीं आ जाती, तक तक हिन्दी को गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त नहीं होगा। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि भारतीय भाषाओं और हिन्दी की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि एक होने के नाते इनके शब्दों के मूल अर्थ को हिन्दी में सहजता से ग्रहण किया जा सकता है। हिन्दी में भारतीय भाषाओं के शब्दों को ग्रहण करने से हिन्दी अखिल भारतीय स्वरूप के विकास का रास्ता खुलेगा और सम्पूर्ण भारत में हिन्दी सम्पर्क भाषा के रूप में स्थापित होगी।

सन्दर्भ

1. हिन्दी शब्दानुशासन, किशोरीदास वाजपेयी, सं. 2045 वि., नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।
2. हिन्दी व्याकरण, कामताप्रसाद गुरु, सं. 2045 वि., नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।
3. हिन्दी भाषा की शब्द-रचना, डॉ. भोलानाथ तिवारी, 1989 ई., साहित्य सहकार, दिल्ली।
4. शब्द: अध्ययन और समस्याएँ, सं. सुरेश कुमार, 1990, केंद्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा।
5. हिन्दी का व्यावहारिक ज्ञान, सं. सुधा कालरा, 1987 ई, केंद्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा।
6. भाषा विज्ञान: सैद्धान्तिक चिन्तन, डॉ. रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, सं. 1997, पृ. 94।
7. वही
8. हिन्दी का व्यावहारिक ज्ञान, सं. डॉ. सुधा कालरा, केंद्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा, सं. 1987, पृ. 5।
9. शब्द के अधिगम-शिक्षण की समस्याएँ : शब्दार्थ के विशेष सन्दर्भ में, मनोरमा गुप्त, शब्द : अध्ययन समस्याएँ, पृ. 122।
10. शब्द और उसके आयाम, ललित मोहन बहुगुणा - शब्द : अध्ययन समस्याएँ, पृ. 77।
11. हिन्दी का व्यावहारिक ज्ञान, सं. डॉ. सुधा कालरा केंद्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा, सं. 1987, पृ. 6-7।
12. वही, पृ. 7-8।
13. भारतीय दर्शन में शब्द का स्वरूप, वि. कृष्णस्वामी अयंगर, शब्द अध्ययन एवं समस्याएँ, पृ. 20।
14. सादृश्यता के आधार पर शब्द निर्माण हिन्दी शब्द रचना' पृ. 91।
15. वही
16. वही, पृ. 93।

सूचना प्रौद्योगिकी एवं हिन्दी का वैश्विक परिदृश्य

भाऊसाहेब नवनाथ नवले*

प्रास्ताविक

इक्कीसवीं सदी यह वह युग है जो 'हाईटेक युग' के नाम से जाना जा रहा है। साथ ही यह वह समय है जहाँ आवाहनों को केन्द्र में रखना अनिवार्यता बनी है। ये आवाहन ही समाज जीवन को सुचारु रूप से संचालित करने में सहायक सिद्ध होते हैं। इतिहास गवाह है कि हर युग समसामयिक परिस्थितियों से प्रभावित रहता है। समसामयिक परिस्थितियों का प्रभाव ही सामाजिक विकास के मानदंडों को निर्धारित करता है। उपलब्ध संसाधनों का जीवन में उपयोग तथा भविष्य की आवश्यकताओं के संकेत भी इन्हीं संसाधनों से मिलते हैं। सामाजिक जीवन में सूचनाओं का संचालन अत्यधिक महत्त्व रखता है। लेकिन सूचनाओं का महत्त्व तब साबित होता है जब कोई सूचना निश्चित तथा उचित समय में एक-दूसरे तक पहुँचे। वस्तुतः सूचना प्रौद्योगिकी का मूल आधार वैज्ञानिक तकनीकी है। किसी भी देश के पिछड़ेपन को दूर करने में सूचना प्रौद्योगिकी ने अहम भूमिका निभाई है। वर्तमान में किसी भी देश की संपन्नता उस देश के सूचना तन्त्र के सम्पन्न होने पर अधिक निर्भर करती है इस सच्चाई को नकारा नहीं जा सकता। सूचना प्रौद्योगिकी ने पूरी दुनिया को एक गाँव में तब्दील किया है। सूचना प्रौद्योगिकी का ही परिणाम है कि पूरी दुनिया की अर्थव्यवस्थाओं को वैश्विक अर्थव्यवस्था के रूप में परिवर्तित देखा जा सकता है। साथ ही समाज के महत्त्वपूर्ण कारक धर्म, शिक्षा, स्वास्थ्य, व्यापार, प्रशासन, उद्योग, अनुसन्धान विकास आदि भी इससे अत्यधिक मात्रा में प्रभावित हुए हैं। जिससे इन क्षेत्रों में विकास के नए-नए सोपान उभरकर आ रहे हैं।

*डॉ. भाऊसाहेब नवले, सहायक प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, राष्ट्रीय रक्षा अकादमी (एन.डी.ए.), खड़कवासला, पुणे-23 E-mail : bhausahaebnavale83@gmail.com, drbnavale@rediffmail.com, Mob. 09922807085

पिछले वर्षों में भारत में सूचना प्रौद्योगिकी का विकास तेजी से हुआ है। भारत में “इंटेल् (Intel), माइक्रोसॉफ्ट (Microsoft), टी.आई. (Tamas Instruments), गूगल (Google), याहू (Yahoo), सैप लैब्स इंडिया (SAP Labs India), सैप लैब्स इंडिया की पेरेंट कम्पनी एसएपी ऐजी (SAPAG), है जो कि जर्मनी में स्थित है, औरकल (Oracle Corporation), इस क्षेत्र की प्रमुख भारतीय कम्पनियों के नाम हैं। फोसिस (Infosys), टी. सी. एस. (Tata Consultancy Services), विप्रो (WIPRO), सत्यम (Satyam)”¹ कहना सही होगा कि इन कम्पनियों ने विभिन्न क्षेत्रों के बहुआयामी विकास में अपना अवदान सिद्ध किया है। सूचना-संचार एवं प्रौद्योगिकी ने भाषिक विकास में भी अपना योगदान दिया है। विश्व की कई भाषाएँ सूचना-संचार एवं प्रौद्योगिकी से लाभान्वित हुई हैं।

प्रस्तुत आलेख में हिन्दी भाषा के विशिष्ट सन्दर्भ को केन्द्र में रखते हुए विवेचन-विश्लेषण किया गया है। संचार-माध्यम एवं सूचना तकनीकी ने हिन्दी को अनन्यसाधारण स्थान तक अवश्य पहुँचा दिया है। भले ही हिन्दी कानून राष्ट्रभाषा बनने से वंचित रही हो, उसका जनहृदय एवं सामासिक पक्ष मात्र भारतवर्ष तक सीमित न रहकर सभी प्रकार की सीमाओं को लाँघकर विदेशों में अपना अस्तित्व सिद्ध कर रहा है।

सूचना प्रौद्योगिकी : विकासोन्मुख परिदृश्य

सूचना प्रौद्योगिकी वह ‘सूचना तकनीक’ है जो विभिन्न सूचना-संसाधनों के जरिए समाज विकास में सूचना की गतिशीलता तथा उसकी शीघ्र परिणति पर प्रकाश डालती है। रवीन्द्र शुक्ला का कहना है कि “नए आर्थिक ढाँचे में समाज की सूचना जरूरतें पूरी करने के लिए एक नई ‘प्रौद्योगिकी’ विकसित हुई है, जिसे ‘सूचना तकनीक’ या ‘सूचना प्रौद्योगिकी’ (आई.टी.) कहा गया है।”² कहना गलत न होगा कि सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी ने विभिन्न क्षेत्रों में अपने विकास के आयामों को उद्घाटित कर रोजगार को बढ़ावा देने में अहम भूमिका अदा की है। कहना सही होगा कि सूचना प्रौद्योगिकी का विकासोन्मुख परिदृश्य निश्चित ही समृद्ध रहा है। कृषि, चिकित्सा, व्यापार, शिक्षा, प्रशासन, बैंकिंग, सुरक्षा, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, संस्कृति, रोजगार, गरीबी तथा आर्थिक क्षेत्र आदि को समृद्ध बनाया है। सूचना-संचार के टेलीवीजन, कम्प्यूटर, इंटरनेट, फ़ैक्स, रेडियो, टेलीफोन, समाचार-पत्र और कम्प्यूटर संजाल आदि ने समाज विकास की सीढ़ियों को नित-निरन्तर लाँघ दिया है। स्पष्ट है कि नई सूचना प्रणालियों के कारण ज्ञानार्जन के स्रोत बढ़ते जा रहे हैं, जिससे ज्ञानपिपासुओं में नए की जिज्ञासा बनी रहती है। “बुद्धि एवं भाषा के मिलाप से

सूचना प्राद्योगिकी के सहारे आर्थिक सम्पन्नता की ओर भारत अग्रसर हो रहा है।”³ ध्यातव्य बात यह कि सूचना प्रौद्योगिकी किसी भी राष्ट्र की शक्ति एवं विकास का परिचायक बनी हुई परिलक्षित होती है। विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी की इस देन का लाभ उठाना ही इक्कीसवीं सदी की साधारण-से-साधारण जनता का लक्ष्य होना चाहिए। कई बार हम सुधीजनों एवं आधिकारिक व्यक्तियों से सुनते हैं कि सूचना प्रौद्योगिकी विकास से भूख की समस्या हल नहीं होगी। पहले भूख की समस्या का तथा गरीबी का हल खोजना चाहिए, लेकिन गौरतलब है कि महानगर, नगर, शहर से होते हुए यह विकास का सोपान गाँव-कस्बे में पहुँचने में भी विलम्ब नहीं लगेगा। यदि हम बार-बार बिना किसी समाधान खोजने के बजाय गरीबी का रोना रोते जाएँगे तो निश्चित ही हम दुनिया से कोसों दूर जाने की बात सोचते हैं, ऐसा ही मानना होगा। इसलिए जरूरी है कि सूचना तकनीकी एवं विभिन्न भाषाओं में समन्वय हो।

वैश्वीकरण और सूचना प्रौद्योगिकी

वैश्वीकरण (Globalization) तथा भूमंडलीकरण का प्रभाव हर राष्ट्र पर पड़ा हुआ प्रतीत होता है। सूचना प्रौद्योगिकी ही वह तकनीकी है जिसने वैश्वीकरण की संकल्पना को साकार रूप प्रदान किया है। सूचना एवं संचार तकनीकी के अभाव में यह सम्भव न हो पाता। प्राचीन समय में ‘वसुधैव कुटुम्बकम्’ की अपनी विशिष्ट पहचान थी। यही भावना कुछ बदलाव के साथ वैश्वीकरण में द्योतित हो रही है। कुछ लोग इस बात को मानने के लिए तैयार अवश्य नहीं हैं लेकिन वैश्वीकरण के तथा समाज विकास के सकारात्मक पक्ष पर दृष्टिपात करने से मालूम होता है कि ‘ग्लोबल विलेज’ और कुछ नहीं है बल्कि ‘वसुधैव कुटुम्बकम्’ की चरितार्थता का ही दूसरा रूप है। वस्तुतः भूमंडलीकरण एवं वैश्वीकरण के केन्द्र में शक्तिशाली एवं विकासशील देश ही है। आम तौर पर कहा जा रहा है कि शक्तिशाली राष्ट्र छोटे देशों को अपना शिकार बनाना चाहते हैं लेकिन महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि शक्तिसम्पन्न राष्ट्र अपनी शक्ति का एहसास दूसरों को अवश्य कराते हैं। ऐसे अवसर पर छोटे तथा विकास की ओर अग्रसर राष्ट्रों का प्रतियोगिता में शामिल होना समय की माँग बनी हुई है। यदि छोटे राष्ट्र वैश्वीकरण तथा भूमंडलीकरण से पलायन की बात करते हैं तो निश्चित ही वे अपने विकास की गति को अवरुद्ध करने जा रहे हैं, ऐसा कहने में अतिशयोक्ति नहीं होगी। भूमंडलीकरण तथा वैश्वीकरण को केन्द्र में रखते हुए सूचना एवं संचार तकनीकी के जरिए राष्ट्रीय विकास की धारा को समृद्ध बनाना समय एवं समाज की महत्त्वपूर्ण आवश्यकता है। होड़ के इस युग में स्वयं को सिद्ध करने में विश्वास निर्माण करना अनिवार्य शर्त बनी हुई है।

सूचना प्रौद्योगिकी एवं वैश्विक स्तर पर हिन्दी

वैश्वीकरण तथा सूचना प्रौद्योगिकी के प्रभाव के लिए भाषागत क्षेत्र भी अपवाद नहीं है। सही मायने में वही राष्ट्र समृद्ध कहलाता है, जिसकी अपनी राष्ट्रभाषा है। वैश्विक स्तर पर विचार करने पर मालूम होता है कि सूचना प्रौद्योगिकी ने प्रादेशिक भाषा क्षेत्र को भी समृद्ध किया है। विभिन्न संचार-माध्यम विविध क्षेत्रीय भाषाओं का प्रयोग करते हैं। सूचना एवं संचार तकनीकी में हिन्दी भाषा ने अपने अस्तित्व एवं आवश्यकता को सिद्ध कर दिया है। सामान्य तौर पर जहाँ अंग्रेजी का बोलबाला पर्याप्त माना जाता था वहाँ आज दुनिया के कई देशों ने हिन्दी को अपनेपन से या आवश्यकतानुरूप भी क्यों न हो स्वीकार किया है। यह हिन्दी भाषा का गौरव माना जा सकता है। आज वही राष्ट्र शक्तिशाली माना जाता है, जिसका सूचना तन्त्र सशक्त है। सूचना तन्त्र एवं तकनीकी को समृद्ध बनाने में भाषा की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। हिन्दी के विभिन्न प्रकार के सॉफ्टवेयर विकसित हो रहे हैं। बहुराष्ट्रीय कम्पनियों ने हिन्दी को विज्ञापन तथा बाजार वृद्धि के साधन के रूप में स्वीकार किया है। प्रिंट माध्यम एवं इलैक्ट्रॉनिक माध्यमों के केन्द्र में हिन्दी ने अपनी पहचान बना ली है। कम्प्यूटर तथा इंटरनेट पर हिन्दी ने अपनी जड़ें जमा ली हैं। दूरदर्शन पर सैकड़ों चैनलों ने हिन्दी को व्यावसायिक स्तर पर स्वीकार किया है। सूचना प्रौद्योगिकी का ही परिणाम है कि भारतीय भाषाओं ने कम्प्यूटर तथा इंटरनेट पर अपनी उपस्थिति दर्ज की है। यूनिकोड तकनीक से भाषिक सीमाएँ समाप्त हो चुकी हैं। इस तकनीक के कारण कम्प्यूटर पर हिन्दी तथा अन्य भाषाओं में काम करना सहज एवं सुलभ हुआ है। कम्प्यूटर पर जो अनुभव हम अंग्रेजी काम करते समय पाते थे वही अनुभव आज हिन्दी तथा अन्य भाषाओं में काम करते समय पाया जा सकता है। “गूगल के एक वरिष्ठ अधिकारी की ये स्वीकारोक्ति काफी महत्वपूर्ण है कि आनेवाले कुछ वर्षों में भारत दुनिया के बड़े कम्प्यूटर बाजारों में से एक होगा और इंटरनेट पर जिन तीन भाषाओं का दबदबा होगा वे हैं हिन्दी, मेंडरिन और अंग्रेजी।”⁴ कहना समीचीन होगा कि जहाँ इंटरनेट पर हिन्दी की स्थिति अनन्यसाधारण महत्त्व द्योतित करती है वहाँ सूचना प्रौद्योगिकी के असीम विकास की परिकल्पना सहज स्पष्ट हो जाती है।

हिन्दी की स्थिति एवं गति पर प्रकाश डालने पर मालूम होगा कि हिन्दी की स्थिति जैसे चिन्ता की अपेक्षा चिन्तनीय अधिक प्रतीत होती है। गति की बात करें तो स्पष्ट है कि वह विकास की ओर अग्रसर अवश्य हो रही है। कहने में संकोच नहीं कि वैश्विक स्तर पर हिन्दी भाषा ने अपना अस्तित्व सिद्ध किया है। इलैक्ट्रॉनिक मीडिया से लेकर प्रिंट मीडिया तक सभी संचार माध्यमों ने हिन्दी को वैश्विक धरातल पर उपस्थिति दर्ज करने में सहयोग दिया है। भूमंडलीकरण के दौर में भाषा एवं साहित्य

के अस्तित्व के प्रति चिन्ता जताई जाती है। बहुत बार यह भी कहा जाता है कि सूचना प्रौद्योगिकी के कारण संचार माध्यमों ने हिन्दी भाषा एवं साहित्य से संवेदना एवं नीतिमूल्यों को गायब किया है। लेकिन संचार माध्यमों के सकारात्मक पक्ष पर विचार करने से मालूम होगा कि हिन्दी को वैश्विक धरातल प्रदान करने में सूचना तकनीकी की महनीय भूमिका रही है। प्रभाकर श्रोत्रिय का कहना है कि “जिन उपादानों से सृजन होता है उनमें भाषा प्रमुख है, बाजारीकरण के युग में यही सर्जनात्मक भाषा सबसे अधिक क्षतिग्रस्त हुई है।...लोकभाषा, मुहावरे, कहावतें, भाषिकी, व्याकरण, प्रतीक, मिथक यानी एक सांस्कृतिक चेतना भाषा से लुप्त होती जा रही है।”⁵ वस्तुतः भाषा परिवर्तनशील होती है। भाषा के परिवर्तन में समकालीन परिवेश एवं परिस्थितियाँ अनन्यसाधारण महत्त्व रखती हैं। किसी भी भाषा का समृद्ध होना उसके शब्द-भंडार पर निर्भर करता है। वर्तमान परिदृश्य को केन्द्र में रखने पर कहा जा सकता है कि हिन्दी नई चाल में ढल रही है। संचार माध्यमों ने जन को केन्द्र में रखते हुए भाषा का प्रयोग करना आरम्भ किया। भले ही माध्यमों द्वारा प्रयुक्त भाषा में मुहावरों, कहावतों का अभाव हो, लेकिन वह भाषा समाज एवं समय की आवश्यकता बनी हुई प्रतीत होती है। जरूरी है हमारा समय के साथ चलना, चाहे साहित्य हो या समाज उसे समय को केन्द्र में रखते हुए विकास की मंजिल तक पहुँचना सहज एवं सुलभ होगा।

वैश्वीकरण के होते बहुराष्ट्रीय कम्पनियों ने व्यावसायिकता को केन्द्र में रखकर हिन्दी को स्वीकार किया है। कई बहुराष्ट्रीय एवं विदेशी कम्पनियाँ विज्ञापनों में हिन्दी का धड़ल्ले से प्रयोग कर रही हैं। इन कंपनियों के प्रयोग पर व्याकरण सम्मत हिन्दी भाषा प्रयोग को लेकर आपत्ति जताई जाती है। लेकिन इन कम्पनियों के प्रयोग से हिन्दी की अपनी प्रकृति एवं प्रवृत्ति में कोई बदलाव नहीं आया है और न ही आने की सम्भावना है। इससे हिन्दी का शब्दभंडार अवश्य बढ़ता जा रहा है। आज किसी भी भाषा का अखबार उठाइए, उसमें कई हिन्दी शब्दों का प्रयोग बेहिचक मिल जाएगा। टी.वी. के किसी भी चैनल को ले लें, इसमें भी हम हिन्दी के अलग-अलग रूप देख सकते हैं। सूचना तकनीक से हिन्दी देश-विदेश की सीमाओं को पार करते हुए एक-दूसरे के दिलो-दिमाग तक पहुँची है। कम्प्यूटर तथा अन्तर्जाल पर हिन्दी की उपस्थिति ने उसे वैश्विक स्तर प्रदान किया है। सैकड़ों पत्र-पत्रिकाएँ हैं जो विदेश से प्रकाशित हो रही हैं। इसमें कई ऐसी पत्रिकाएँ भी हैं जो अपने ऑनलाइन संस्करण भी उपलब्ध करा रही हैं। “भारत दर्शन” (<http://www.bharatdarshan.co.nz>) न्यूजीलैंड से प्रकाशित हिन्दी साहित्यिक पत्रिका है। ‘सरस्वती’ (<http://www.saraswatipatra.com>) पत्र कनाडा से प्रकाशित होता है। ‘अन्यथा’ (<http://www.anyatha.com>) अमेरिका स्थित भारतीय मित्रों द्वारा प्रकाशित है। ‘हिन्दी परिचय’ (<http://www.hindiparichay.com>) ‘गर्भनाल’ (<http://www.garbhanaal.com>) प्रवासी भारतीयों की ई-पत्रिका है। ‘कलायन’ (<http://www.kalayan.org>), ‘कर्मभूमि’ (<http://www.hindiusa.org>) हिन्दी यू.एस.ए.

की त्रैमासिक पत्रिका, 'हिन्दी जगत्', 'हिन्दी बालजगत्' एवं 'विज्ञान प्रकाश' (<http://www.medullus.com>) विश्व हिन्दी न्यास समिति द्वारा प्रकाशित पत्रिकाएँ हैं, 'ई-विश्व' (<http://www.evishwa.com>) अन्तर्राष्ट्रीय हिन्दी समिति, सेलम की त्रैमासिक हिन्दी पत्रिका, 'प्रवासी टुडे' (<http://www.pravasitoday.com>) अन्तर्राष्ट्रीय साहित्यिक संस्था की पत्रिका है तथा 'पुरवाई' (<http://www.purwai.com>)⁶ आदि पत्रिकाएँ विदेशों से प्रकाशित होकर भी हिन्दी के प्रति अपना दायित्व वहन करने में सफल सिद्ध हुई हैं, इसमें सन्देह नहीं है।

भारत से प्रकाशित होनेवाली ई-पत्र-पत्रिकाएँ इस प्रकार हैं 'सृजनगाथा', 'साहित्यकुंज', 'हिन्दी नेस्ट', 'अनुभूति', 'अभिव्यक्ति', 'प्रवक्ता' समाचार वेब पोर्टल, 'भारतीय पक्ष', 'जनोक्ति', 'हिन्दी साहित्य शिल्पि', 'लघुकथा', 'हिन्दी साहित्यमंच', 'अनुरोध', 'ताप्तीलोक', 'हिन्दी चेतना', 'लेखनी', 'साहित्य वैभव', 'मीडिया विमर्श', 'मिलनसागर', 'हिन्दी समय', 'हिन्दी युग्म', 'समय दर्पण', 'प्रतिलिपि' द्विभाषी पत्रिका, 'काव्यांचल', 'हिन्दी साहित्य मंच', 'परिचय', 'प्रेरणा', 'रचनाकार ब्लॉग स्पॉट', 'नई दुनिया', 'चौथी दुनिया', 'दैनिक जागरण', 'दैनिक भास्कर', 'हिन्दुस्तान', 'लोकायत', 'प्रभात खबर', 'देशबन्धु', 'राजस्थान पत्रिका' आदि ई-पत्र-पत्रिकाओं के साथ-साथ 'पाखी', 'तहलका', 'हंस', 'वागर्थ', 'नया ज्ञानोदय', 'कथाबिम्ब', 'बहुवचन', 'पुस्तकवार्ता', 'तद्भव', 'उद्गम', 'अक्षरपर्व', 'इंडिया टुडे', 'आउटलुक', 'नवभारत टाइम्स', 'समय के साखी', 'अरगला', 'तरकश', 'प्रज्ञा', 'स्पैन', 'क्षितिज', 'सार-संसार', 'मधुमती', 'अपनी दिल्ली', 'असामान्य विश्व', 'वाङ्मय', 'उर्वशी', 'संस्कृति', 'प्रतिध्वनि', 'प्रज्ञा अभियान', 'पर्यावरण डाइजेस्ट', 'पाण्डुलिपि', 'निरन्तर', 'कलायन', 'काव्यालय', आदि मुद्रित पत्र-पत्रिकाओं के ई-संस्करण भी निकलने लगे हैं। इन पत्र-पत्रिकाओं ने सामयिक विषयों के साथ-साथ विशेष अवसरों को अपने केन्द्र में रखा है। विविध विधागत साहित्य के साथ-साथ बालदिवस, मातृदिवस, हिन्दी दिवस, वेलेंटाइन डे, पर्यावरण दिवस, महिला दिवस तथा विशेष अवसरों एवं प्रसंगों को अभिव्यक्ति दी है। हिन्दी के इस विस्तृत क्षेत्र से उसके पाठकों में असीम वृद्धि हो रही है इसमें दो राय नहीं है।

सूचना क्रान्ति एवं हिन्दी का भविष्य

सूचना प्रौद्योगिकी एवं संचार साधनों ने विविध प्रादेशिक भाषाओं के विकास में महनीय योगदान दिया है। हिन्दी, मराठी, कन्नड, गुजराती, तेलुगु आदि कई भाषाएँ हैं जिनकी इंटरनेट पर उपस्थिति दर्ज है। सूचना क्रान्ति के युग में हिन्दी भाषा का भविष्य निश्चित ही उज्ज्वल है। डॉ. ऋषभदेव शर्मा का कहना सही प्रतीत होता है—'हिन्दी के इस वैश्विक विस्तार का बड़ा श्रेय भूमंडलीकरण और संचार माध्यमों के विस्तार को जाता है। संचार माध्यमों ने हिन्दी के जिस विविधतापूर्ण सर्वसमर्थ नए

रूप का विकास किया है, उसने भाषा समृद्ध समाज के साथ-साथ भाषा वंचित समाज के सदस्यों को भी वैश्विक सन्दर्भों में जोड़ने का काम किया है।⁷ सूचना तकनीकी का ही परिणाम है कि आज इंटरनेट पर हिन्दी भाषा से सम्बन्धित आवश्यक सॉफ्टवेयर उपलब्ध है। हिन्दी वर्तनी जाँचक, फांट परिवर्तक, लिपि परिवर्तक, अनुवाद, उच्चारण सम्बन्धी तकनीक, हिन्दी में कही बात को पाठ में बदलनेवाला सॉफ्टवेयर, हिन्दी-अंग्रेजी, अंग्रेजी-हिन्दी कोश, हिन्दी ई-पुस्तकें, ई-मेल के साथ कई सुविधाएँ इंटरनेट पर उपलब्ध हैं। फिर भी कम्प्यूटर पर हिन्दी में काम करनेवालों की संख्या कम मात्रा में दिखाई देती है। लेकिन यह मात्रा दिन-ब-दिन बढ़ती अवश्य जा रही है। हिन्दी अखबारों का ई-संस्करण क्षेत्र बढ़ता जा रहा है। अखबारों के ई-संस्करणों के कारण प्रादेशिक सीमाएँ मिटती जा रही हैं और सांस्कृतिक तथा सामाजिक सौहार्द्र बढ़ता जा रहा है। वर्तमान में समकालीन तथा नव युवा लेखकों ने इंटरनेट पर अपनी सृजनात्मकता एवं मौलिकता का परिचय दिया है। इंटरनेट पर साहित्य की उपलब्धता को लेकर जहाँ एक ओर प्रकाशक, लेखक तथा व्यावसायिकता का प्रश्न उठता है वहाँ दूसरी ओर पाठकों के बढ़ने की आकांक्षा भी की जा सकती है। दूरदर्शन पर प्रसारित विभिन्न चैनलों ने हिन्दी को अलग रूप में ढाला अवश्य है लेकिन उन्होंने हिन्दी को वैश्विक मंच प्रदान किया है। रेडियो पर प्रसारित हिन्दी नाटक, ब्यंग्य तथा कथा जगत् ने देश-विदेश में अपने पाठक निर्मित किए हैं। इंटरनेट पर विभिन्न ई-अखबार प्रकाशित होते हैं। इंटरनेट पर आज राजस्थान पत्रिका, नई दुनिया, दैनिक भास्कर, दैनिक जागरण, इंडिया टुडे, आउटलुक, अमर उजाला, नवभारत टाइम्स, दैनिक नवभारत, हिन्दुस्तान दैनिक, डेली हिन्दी मिलाप, पंजाब केसरी, इरान समाचार, लोकमंच, सरस्वती पत्र, एक्सप्रेस न्यूज, हरिभूमि, आज, जन समाचार, द गुजरात, हिन्दी टाइम्स, लोकतेज, प्रभा साक्षी आदि समाचार-पत्र हिन्दी में प्राप्त होते हैं। निश्चित ही यह हिन्दी के उज्ज्वल भविष्य का संकेत है। बी.बी.सी., रेडियो चाइना ऑनलाइन, आज तक, अमरीका की आवाज, राष्ट्रीय सहारा, वेब दुनिया, सिफी हिन्दी, जोश 18, वैब 18, सुमनसा, यूनिवार्ता, मजेदार मंच, एक्सप्रेस न्यूज, वाह मीडिया, प्रसनोट, डेटलाइन इंडिया, खास खबर, शेयर मार्केट हिन्दी, न्यूज विंग, उत्तरांचल टाइम्स, आपके सांसद आपके द्वार, प्रतिवाद, हिन्दी लोक, भारतीय पक्ष, ग्रॅब्लाइन, समाचार चिट्ठाजगत्, डियूश वेल्ल (जर्मन रेडियो द्वारा प्रसारित हिन्दी कार्यक्रम), डेली हिन्दी न्यूज, ई.एम.एस. इंडिया, तहलका, गूगल हिन्दी समाचार, रीडिफ कॉम आदि जालस्थल है जो हिन्दी खबरों एवं कुछ मात्रा में साहित्यिक गतिविधियों से जुड़े रहते हैं। इन समाचार विषयक जालस्थलों के अलावा देश-विदेश से प्रकाशित हिन्दी ई-पत्रिकाओं ने भी हिन्दी के विकासोन्मुख परिदृश्य से दुनिया को अवगत किया है। कहना गलत न होगा कि हिन्दी के अपेक्षाकृत तथा राष्ट्रभाषा बनने की प्रक्रिया में आम जन की भूमिका भी अनन्यसाधारण महत्त्व रखती है। देश के विभिन्न विश्वविद्यालयों

के साथ-साथ विदेशी विश्वविद्यालयों में हिन्दी का अध्ययन-अध्यापन एवं अनुसन्धान जारी है। लेकिन इक्कीसवीं सदी तथा सूचना क्रान्ति के जमाने में भी आज भी गाँवों की स्थिति में अपेक्षित परिवर्तन नहीं आया है। प्राथमिक स्तर पर पहली कक्षा से अंग्रेजी का अध्यापन गौरव की बात मानी जाती है जब कि हिन्दी जनभाषा होने के उपरान्त भी दुर्लक्षित की जा रही है। शहरों में स्कूलों में कम्प्यूटर उपलब्ध होते हैं लेकिन गाँवों में आज भी कम्प्यूटर आकर्षण की वस्तु बना हुआ प्रतीत होता है। जबकि केन्द्रीय स्तर पर ग्रामीण स्कूलों को कम्प्यूटर एवं इंटरनेट की सुविधा निःशुल्क उपलब्ध करना वर्तमान समय की आवश्यकता बनी हुई है। यही स्कूली बच्चे राष्ट्रीय भविष्य के आधार होंगे, इस सच्चाई से मुँह मोड़ना भी गलत साबित होगा।

सूचना क्रान्ति एवं हिन्दी के विकास में राष्ट्रीय महत्त्व की संस्थाओं का योगदान

सूचना एवं संचार क्रान्ति में राष्ट्रीय महत्त्व की संस्थाओं का योगदान अवश्य अनन्यसाधारण रहा है। नित्य नए होते आविष्कारों से यह बात सामने आ रही है। हिन्दी को केन्द्र में रखकर बनी हुई राष्ट्रीय महत्त्व की संस्थाओं ने तो हिन्दी के विकास में महत्त्वपूर्ण दायित्व वहन किया है। लेकिन दुर्भाग्यपूर्ण बात यह कि आज भी केन्द्रीय राजभाषा आयोग के गठित होने तथा उनके निर्देशों के उपरान्त भी इन संस्थाओं में हिन्दी का प्रयोग 'भाषिक अलंजरी' के समान दिखाई देता है। सूचना तकनीक के कारण इन संस्थाओं में हिन्दी का प्रयोग सहज एवं सुलभ बना है। लेकिन इन संस्थाओं के विभिन्न अनुभागों में कार्यरत अधिकारी एवं कर्मचारियों की अंग्रेजियत वाली मानसिकता में स्वाधीनता के चौंसठ साल बाद भी अपेक्षित परिवर्तन नहीं आया। वस्तुतः केन्द्रीय कार्यालयों में कुल पत्राचार का 80 प्रतिशत पत्राचार हिन्दी में अपेक्षित है। राष्ट्रीय महत्त्व की संस्थाओं में हिन्दी में पत्राचार करना प्रतिष्ठाहित माना जाता है तो अंग्रेजी में पत्राचार को प्राथमिकता देकर अपनी खोखली प्रतिष्ठा को बढ़ावा दिया जा रहा है। अत्यधिक दुर्भाग्यपूर्ण बात यह कि इन संस्थाओं में स्थित हिन्दी विभाग का पत्राचार भी अंग्रेजी में किया जाता है। इन बातों की चिन्ता की अपेक्षा चिन्तन जरूरी प्रतीत होता है। इन संस्थाओं में स्वाधीनता दिवस, गणतंत्र दिवस तथा अन्य विशिष्ट दिनों के अवसर पर होते अधिकारियों के 'भाषण की स्क्रिप्ट' के अलावा हिन्दी का प्रयोग 'पहाड़ में चूहे खोदने' जैसा ही प्रतीत होता है।

सूचना प्रौद्योगिकी एवं हिन्दी व्यावसायिक परिदृश्य

व्यावसायिक परिदृश्य का तात्पर्य यहाँ दो रूपों में लिया जा सकता है। एक तो सूचना प्रौद्योगिकी तथा नई तकनीक के कारण व्यावसायिक क्षेत्रों में प्रयुक्त हिन्दी से है तो दूसरा जिसे मैं केन्द्र में रखना चाहता हूँ वह है हिन्दी प्रयोग एवं आर्थिक कठिनाइयाँ।

सदियों से समय एवं समाज के केन्द्र में 'अर्थ' रहा है। 'अर्थ' ही समाज-जीवन संचालन में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। सूचना प्रौद्योगिकी के कारण व्यवसाय के विभिन्न क्षेत्रों में हिन्दी का प्रयोग धड़ले से हो रहा है। अत्यधिक क्षेत्रों में हिन्दी प्रयोगाक्षी दिखाई देते हैं लेकिन अर्थाभाव के कारण वे आवश्यक तकनीक का लाभ उठा नहीं सकते। आज इंटरनेट पर सैकड़ों पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित हो रही हैं। उनके सामने आर्थिक संकट पर्याप्त मात्रा में उभरकर आ रहा है। जालस्थल का संचालन उनके लिए गम्भीर समस्या बना हुआ दिखाई देता है। वे अन्तस् से हिन्दी के प्रति अपनापन तो दिखाते हैं लेकिन आर्थिक समस्याओं के हल न होने के कारण वे उसके साथ न्याय नहीं कर पाते हैं। वेब पत्रिकाओं के लिए विज्ञापन की आवश्यकता होती है या अन्य किसी भी अर्थार्जन की। लेकिन हर समय यह सम्भव नहीं हो पाता। परिणामी इन वेब संचालन कर्ताओं के सामने भाषिक स्वास्थ्य बनाए रखने के लिए भी स्टाफ उपलब्ध नहीं हो पाता। न उनके पास प्रूफ रीडर को देने के लिए मानदेय की व्यवस्था होती है, न सम्पादक को किसी प्रकार का मानदेय देने की। ठीक यही बात मुद्रित पत्र-पत्रिकाओं के बारे में भी दृष्टिगत होती है। ई-पत्रिकाओं में प्रकाशित लेखकों को लगता है कि ये पत्रिकाएँ उन्हें किसी प्रकार का मानदेय दें। साथ ही जाने-माने बहुचर्चित रचनाकार अपनी मौलिक रचनाओं को भी जालस्थल पर प्रकाशित करना नहीं चाहते। उन्हें लगता है कि यदि यह रचना सहज रूप से जालस्थल के जरिए पाठकों तक पहुँचती है तो इसका मानदेय या किसी भी प्रकार की रायल्टी मिलने की सम्भावना नहीं है। प्रकाशकों के बारे में भी यही मत लागू होता है।

वैश्वीकरण की हवा के साथ-साथ हिन्दी ने विश्व का कोना-कोना झाँक अवश्य लिया है। लेकिन इतना होने पर भी भारतवर्ष में रोजगार की समस्या गम्भीर बनी हुई दिखाई देती है। सामान्य आदमी भी यदि किसी से पूछता है कि हिन्दी में उच्च शिक्षा पाने के उपरान्त भी कोई रोजगार नहीं है। यह सच्चाई अवश्य है लेकिन हिन्दी में रोजगार के पर्याप्त अवसर हैं, उन अवसरों का लाभ हमें उठाना है। हम अपनी कमियों एवं अज्ञान के कारण रोजगार की समस्या हिन्दी भाषा पर थोपते हैं। हिन्दी अधिकारी, राजभाषा अधिकारी, अनुवादक, निवेदक या अन्य हिन्दी से सम्बन्धित अधिकतर रिक्तियों में हिन्दी के साथ-साथ अंग्रेजी की महत्ता को अत्यधिक महत्त्व दिया जा रहा है जो गलत है। दूसरी सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह कि यदि हिन्दी के साथ-साथ हम अन्य विदेशी भाषा में भी विशेषज्ञता हासिल करते हैं तो मुझे लगता है रोजगार हमारे चरण चूमेगा इसमें सन्देह नहीं। जो हम अपनी भाषा से सीखते हैं, वह दूसरी भाषा से कतई सम्भव नहीं। दूसरी भाषाएँ इसलिए सीखनी हैं कि वह समय, समाज एवं परिवेश की आवश्यकता बनी हुई है।

सूचना प्रौद्योगिकी एवं हिन्दी का शैक्षिक परिदृश्य

सूचना प्रौद्योगिकी के कारण हिन्दी का शैक्षिक परिदृश्य उन्नति की ओर बढ़ता नजर आता है। आजकल हम देखते हैं कि अंग्रेजी स्कूलों में शिक्षा प्राप्त करना गौरवपूर्ण माना जाता है। हम अपनी मातृभाषा तथा देशी भाषा में शिक्षा प्राप्त करने में संकोच करते हैं। दुर्भाग्यपूर्ण बात है कि सूचना क्रान्ति के उपरान्त आज भी हिन्दी सेवी संस्थाओं तथा प्रचार संस्थाओं के अलावा विशेष रूप से कोई संस्था नहीं है जो हिन्दी की शिक्षा के लिए समर्पित भाव से कार्य कर रही है। प्रि. ओ. पी. पराशर का कहना है कि “भारतीय विद्वान या जन-सामान्य से शिक्षा-क्षेत्र में हिन्दी की भूमिका अथवा प्रयोग के बारे में चर्चा की जाए तो उनका अभिमत होगा कि राष्ट्रीय सोच, राष्ट्र स्तर, प्रोन्नति एवं राष्ट्रीय एकता के लिए ‘हिन्दी’ आवश्यक है।”¹⁸ कहना गलत न होगा कि हिन्दी में वह ताकत है जो संस्कारक्षम बनाने में काम आती है। हिन्दी ‘आयुर्वेद’ के रूप में काम आती है जबकि अन्य विदेशी भाषाएँ ‘एंटिबायोटिक’ के रूप में काम करती हैं। अपनी भाषा से प्राप्त शिक्षा का असर दीर्घ समय तक बना रहता है, जबकि किसी दूसरी भाषा में प्राप्त शिक्षा कामचलाऊपन की प्रवृत्ति को बढ़ावा देने के अलावा कोई महत्त्व नहीं रखती है। दूसरी भाषा के अध्ययन से हम अपनी विरासत रूपी संस्कृति से परिचित नहीं हो पाते हैं। इसलिए अहिन्दी भाषी प्रदेशों में पहली कक्षा से ही हिन्दी का प्रयोग अपनेपन से होने की आवश्यकता है।

सूचना युग में किसी भी क्षेत्र का अध्ययन हिंदी में सम्भव हो सकता है। यहाँ तक कि चिकित्सा एवं विधि क्षेत्रीय शिक्षा की सुविधा भी हिन्दी में उपलब्ध होनी चाहिए, क्योंकि हिन्दी ही एकमात्र भाषा है जिसका व्याकरण वैज्ञानिकता की कसौटी पर उतरता है। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह कि आज राजभाषा आयोग तथा तकनीकी शब्दावली आयोग विभिन्न क्षेत्रीय पारिभाषिक शब्द निर्माण में सक्रिय दिखाई देते हैं। इसलिए भविष्य में शिक्षा क्षेत्र में हिन्दी अपनी जड़ें जमाएगी इसमें सन्देह नहीं। आम तौर पर देश के तथा विभिन्न विश्वविद्यालयों में हिन्दी का अध्ययन-अध्यापन हो रहा है। लेकिन कम्प्यूटर पर स्थित हिन्दी अध्येताओं को तकनीकी लाभों की ओर आकर्षित कर रही है। ई-लर्निंग के जरिए शिक्षा का कार्य और भी सुलभ बना हुआ दिखाई देता है। कम मात्रा में क्यों न हो कुछ संस्थानों में ई-लर्निंग का प्रयोग हो रहा है। यूनिकोड के कारण हिन्दी सम्बन्धी अत्यधिक समस्याएँ दूर हुई हैं। ध्यातव्य बात यह कि आज यू.पी.एस.सी. अथवा किसी भी प्रकार की प्रतियोगी परीक्षा हो, इनके अध्येताओं की संख्या दिन-ब-दिन बढ़ती जा रही है। इन परीक्षाओं में हिन्दी ने अपना अस्तित्व सिद्ध कर दिखाया है। इन परीक्षाओं में मुख्य विषय के रूप में हिन्दी का अध्ययन करनेवाले प्रतियोगियों के लिए इंटरनेट पर हिन्दी की विभिन्न वेबसाइटों पर महत्त्वपूर्ण सामग्री सहज रूप में उपलब्ध होती है।

‘हाईटेक युग’ में हिन्दी के विकास के नए आयाम

सूचना एवं उच्च तकनीकी युग में हिन्दी के विकास की गति में उचित परिवर्तन की अपेक्षा द्योतित होती है। भले ही यह काम अर्थकेन्द्रित हो, इसके लिए प्रयास होना वर्तमान समय एवं समष्टि की आवश्यकता है। तकनीकी संसाधनों से आम जन की अत्यधिक समस्याओं का समाधान हुआ है। टी.वी., रेडियो, मोबाइल, इंटरनेट तथा कम्प्यूटर पर हिन्दी के होते प्रयोग पर किसी भी अनावश्यक कारण से प्रतिबन्ध लगाना हिन्दी के विकास में अवरोध निर्माण करने से कम नहीं है। देश के प्रतिष्ठित माने जानेवाले वे ग्रन्थालय, जहाँ हिन्दी सम्बन्धी पर्याप्त जानकारी तथा ग्रन्थ उपलब्ध हैं, वह सामान्य जन के प्रयोगार्थ इंटरनेट के माध्यम से उपलब्ध की जानी चाहिए। इंटरनेट पर हिन्दी विषयक जानकारी सहज प्राप्त होने पर भी हिन्दी के प्रति अध्येताओं एवं पाठकों में अत्यधिक लगन एवं लगाव बढ़ जाएगा। समकालीन हिन्दी लेखकों को ऑनलाइन लेखक के रूप में लेखन के लिए प्रवृत्त करने की दृष्टि से केन्द्रीय स्तर पर उन्हें विभिन्न पुरस्कारों से सम्मानित किए जाने की आवश्यकता है। सामान्य लेखक को जिस प्रकार किसी मौलिक रचना के सृजनोपरान्त प्रकाशक से मानदेय (रॉयल्टी) दिया जाता है, उसी प्रकार ऑनलाइन लेखकों के लेखन के लिए भी मानदेय का प्रबन्ध होने पर भी हिन्दी के विकास का नया स्वर उभरकर आ सकता है। इस प्रक्रिया के कार्यान्वयन से प्रतिष्ठित रचनाकार भी ऑनलाइन लेखन की ओर आकर्षित होंगे। साथ ही प्रकाशक को भी केन्द्र या राज्य सरकार से आर्थिक सहयोग मिलने पर हिन्दी विकास की गति में अतिविशेष परिवर्तन की कामना करना उचित होगा।

‘हाईटेक’ युगीन हिन्दी : भाषिक पक्ष

सूचना प्रौद्योगिकी के जमाने में सूचना एवं संचार माध्यमों ने हिन्दी का बेहिचक एवं बेबाक प्रयोग किया है, ऐसा दिखाई देता है। कहना सही होगा कि रेडियो एफ.एम., दूरदर्शन पर स्थित विविध चैनल, धारावाहिक, मुद्रित माध्यम, इलेक्ट्रॉनिक माध्यम, सिनेमा, अन्तर्जाल पर स्थित पत्र-पत्रिकाएँ, विज्ञापन, ब्लागस्पॉट आदि ने हिन्दी के विकास को बढ़ावा अवश्य दिया है। लेकिन कुछ महानुभावों का कहना है कि इन माध्यमों ने हिन्दी की प्रकृति को बिगाड़ा है। यह भी आरोप लगाया जा रहा है कि भूमंडलीकरण के प्रभाव से हिन्दी अपनी चाल में ढलने लगी है। संचार माध्यमों द्वारा हिन्दी के प्रयोग से मानो संवेदना एवं भाव गायब होता नजर आ रहा है, इस प्रकार के वक्तव्य भी काफी सुनने को मिलते हैं। सम्भवतः इस प्रकार के विचारक एवं विद्वान एकांगी विचार करते नजर आते हैं।

भले ही संचार माध्यमों के हिन्दी प्रयोग में अशुद्धियाँ मिलती हों, कोई बात नहीं है। अशुद्धियों से, मुहावरों, कहावतों के अभाव से हिन्दी से संवेदना गायब होने का

प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता है। हिन्दी में प्रादेशिक भाषाओं के शब्द भी प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। साथ ही अंग्रेजी शब्दों का वर्चस्व भी नजर आता है। लेकिन भाषा की उन्नति का लक्षण है उसका शब्दभंडार। हिन्दी की संस्कृति एवं प्रकृति सामासिक है, वह किसी भी भाषा के शब्दों को सहज रूप में स्वीकार करती है। कहना गलत न होगा कि संचार युग में होते हिन्दी के प्रयोग से हिन्दी भाषा विकास के लिए किसी प्रकार का खतरा नहीं है। सूचना एवं संचार साधनों द्वारा प्रयुक्त भाषा जनकेन्द्रित हिन्दी है, जो जन से सीधा साक्षात्कार करने में सफल हुई है।

निष्कर्ष

इक्कीसवीं सदी के महत्त्वपूर्ण पड़ावों में सूचना प्रौद्योगिकी एवं संचार तकनीकी के विकासोन्मुख परिदृश्य ने पूरे विश्व को प्रभावित किया है। साथ ही वैश्वीकरण एवं भूमंडलीकरण के प्रभाव को भी नकारा नहीं जा सकता। वैश्वीकरण से प्रभावित राष्ट्रों को वैश्विक होड़ में बने रहने के लिए इस इक्कीसवीं सदी की चुनौतियों को स्वीकारना समय की आवश्यकता बनी हुई है। सूचना प्रौद्योगिकी का ही परिणाम है कि पूरी दुनिया की अर्थव्यवस्थाओं को वैश्विक अर्थव्यवस्था के रूप में परिवर्तित देखा जा सकता है। साथ ही समाज के महत्त्वपूर्ण कारक धर्म, शिक्षा, स्वास्थ्य, व्यापार, प्रशासन, उद्योग, कृषि, साहित्य, भाषा, अनुसन्धान विकास, बैंकिंग, सुरक्षा, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, संस्कृति, रोजगार, गरीबी तथा आर्थिक क्षेत्र आदि अन्यान्य क्षेत्रों का विकासोन्मुख आलेख दृष्टिगत होता है।

सूचना-संचार के टेलीवीजन, कम्प्यूटर, इंटरनेट, फ़ैक्स, रेडियो, टेलीफोन, समाचार-पत्र और कम्प्यूटर संजाल ने समाज विकास की सीढ़ियों को नित-निरन्तर लॉच दिया है। कहना सही होगा कि वैश्वीकरण तथा सूचना प्रौद्योगिकी का प्रभाव भाषिक रूप में भी देखा जा सकता है। वैश्विक स्तर पर विचार करने पर मालूम होता है कि सूचना प्रौद्योगिकी ने प्रादेशिक भाषा क्षेत्र को भी समृद्ध बनाया है। सूचना एवं संचार तकनीक में हिन्दी भाषा ने अपने अस्तित्व एवं आवश्यकता को सिद्ध कर दिया है। आज हिन्दी के वैश्विक परिदृश्य एवं प्रभाव से भारतवर्ष ही नहीं अपितु विश्व के अत्यधिक देश परिचित हो रहे हैं। बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की आवश्यकता हो या वैश्वीकरण एवं बाजारीकरण की प्रवृत्ति हो विश्व में हिन्दी को प्रमुख भाषा के रूप में मान्यता मिल रही है। बाजारू मानसिकता में भी हिन्दी ने अपनी प्रकृति एवं प्रवृत्ति के कारण लोगों को मोहित किया है इस सच्चाई को नकारा नहीं जा सकता। सूचना प्रौद्योगिकी के जमाने में अन्य भाषा शिक्षण कार्य सुलभ हुआ है। रोजागारोन्मुखता को केन्द्र में रखकर हिन्दी के साथ-साथ अन्य देशी तथा विदेशी भाषा शिक्षा का लाभ उठाना एक उपलब्धि सिद्ध होगी।

भारत देश के साथ-साथ विदेशों से कई हिन्दी पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित होती हैं जो हिन्दी की वैश्विक आवाज को बुलन्द करते नजर आते हैं। जहाँ हिन्दी के प्रति प्रिंट मीडिया ने अपना बेबाक दायित्व वहन किया है वहाँ इलैक्ट्रॉनिक माध्यमों ने भी नित नए होते आविष्कारों के कारण हिन्दी की अनुगूँज से पूरे विश्व के कोने-कोने को लाभान्वित होने का अवसर दिया है। एक समय था जब कम्प्यूटर की भाषा के रूप में अंग्रेजी को महत्त्व दिया जाता था लेकिन आज वह समय है, कम्प्यूटर पर हिन्दी के साथ-साथ प्रादेशिक भाषाओं ने भी अपनी उपस्थिति दर्ज की है। सूचना क्रान्ति के युग में हिन्दी भाषा का भविष्य निश्चित ही उज्ज्वल है। सूचना तकनीकी युग में हिन्दी भाषा प्रयोग एवं व्यावसायिकता की प्रवृत्ति पर विचार करने की आवश्यकता है।

टी. वी., रेडियो, मोबाइल, इंटरनेट तथा कम्प्यूटर पर हिन्दी के होते प्रयोग को किसी भी अनावश्यक कारण से प्रतिबन्ध लगाना हिन्दी के विकास को अवरोध निर्माण करने से कम नहीं है। हिन्दी की संस्कृति एवं प्रकृति सामासिक है, वह किसी भी भाषा के शब्दों को सहज रूप में स्वीकार करती है। कहना गलत न होगा कि सूचना एवं संचार युग में होते हिन्दी के प्रयोग से हिन्दी भाषा विकास के लिए किसी प्रकार का खतरा नहीं है। अन्ततः कहना समीचीन होगा कि सूचना प्रौद्योगिकी के युग में वैश्विक स्तर पर हिन्दी का भविष्य निश्चित ही उज्ज्वल परिलक्षित होता है।

सन्दर्भ सूची

1. <http://hindi.wikipedia.org/wiki>
2. रवीन्द्र शुक्ला, सूचना प्रौद्योगिकी और समाचार-पत्र, पृष्ठ 23, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. 2008।
3. <http://rajbhashamanas.blogspot.com/2010/02/13/02/2010>
4. <http://koshilive.com/miscellaneous/2011/02/1203>
5. सं. प्रभाकर श्रीत्रिय, समकालीन भारतीय साहित्य, जुलाई-अगस्त, 2011, पृष्ठ 8।
6. <http://www.hindi.wikipedia.org.com>
7. <http://www.abhivyakti.com, 1/05/2007>
8. सं. डॉ. एस. पी. शर्मा, व्यावसायिक क्षेत्रों में हिन्दी प्रयोग, पृष्ठ 137।
(शिक्षा क्षेत्र में हिन्दी माध्यम का प्रयोग आलेख से)

‘माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः ।’

अर्थात् यह भूमि मेरी माता है और मैं इस पृथ्वी माता का पुत्र हूँ । इसलिए ऋग्वेद में इस भूमि-माता अर्थात् मातृ-भूमि की भली प्रकार सेवा करने के लिए कहा गया है ‘उपसर्प मातां भूतिमेताम ।’

ऋग्वेद में तो वह भी प्रार्थना की गई है कि कोई दुष्प्रभाव वाला लोभी पुरुष या समुदाय हमारे ऊपर शासन न कर सके। हम अच्छे भावों से युक्त होकर अपनी बुद्धि की सहायता से उचित उपाय करके सब विपत्तियों से आक्रामणादि सब संकटों से पार हो जाएँ।

तात्पर्य यह है कि केवल विदेशी शासन से लड़ना या स्वाधीनता प्राप्ति का प्रयत्न करना ही राष्ट्रीयता नहीं, अपितु सर्वप्रकारेण राष्ट्र का हित चिन्तन करते रहना भी राष्ट्रीयता की कसौटी है।

हिन्दी काव्यों में राष्ट्रीयता

क्रिष्णाभाई डी. पटेल*

राष्ट्रीयता का स्वरूप समय और परिस्थितियों के अनुसार बदलता रहता है, परन्तु हर रूप में राष्ट्र तत्त्व उसका प्रधान अंग रहा है। किसी जाति या राष्ट्र के व्यक्तियों की एक साथ मिलकर रहने और सामूहिक रूप में अपने राष्ट्र को उन्नत बनाने की इच्छा ही राष्ट्रीयता कहलाती है। अपनी मातृभूमि के प्रति अगाध भक्ति में, अपनी सभ्यता तथा संस्कृति के प्रति गौरव में, अपने देश की स्वाधीनता की रक्षा में, विदेशी शासन एवं आक्रमण के प्रतिरोध में तथा अपने राष्ट्र की सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक स्थिति के उत्तरोत्तर विकास एवं सुधार की भावना में भी राष्ट्रीयता ही लक्षित होती है। स्पष्ट है कि राष्ट्रीयता की इस धारणा में राष्ट्र तत्त्व प्रमुख है। प्रसिद्ध इतिहासकार प्रोफेसर मजूमदार ने राष्ट्र का स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखा है कि “वह जनसमूह जो यह अनुभव करता है कि उसका एक निजी सामाजिक व्यक्तित्व है, अपना साहित्य है, अपनी भाषा है, एक-से रीति-रिवाज हैं, जिसका अन्य राष्ट्रों से उन विशेषताओं के कारण भिन्न अस्तित्व है, वही एक सम्पन्न राष्ट्र। इस राष्ट्र के निवासी इसकी प्रगति, सुरक्षा और सेवा के लिए जो कुछ भी सोचते-करते हैं, वही राष्ट्रीयता है।”

राष्ट्रीयता का स्वरूप

हिन्दी काव्य में राष्ट्रीयता के स्वरूप पर विचार करने से पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि जब हिन्दी साहित्य का आरम्भ हुआ तब देश की परिस्थितियाँ बड़ी संक्रान्तिपूर्ण थीं। राष्ट्र किसी एकमात्र शासन सूत्र में बँधा न होकर छोटे-छोटे राज्यों और रजवाड़ों में विभक्त था। फिर भी धार्मिक, सांस्कृतिक एवं भाषागत एकत्व के कारण उसके भीतर-ही-भीतर एकसूत्रता के चिह्न विद्यमान थे। अतः हिन्दी के प्रारम्भिक काव्यों में राष्ट्रीयता का यह स्वर सुनाई नहीं देता, जो कभी वेदों की इस वाणी में गूँजा करता था। यथा

-प्रा. डॉ. क्रिष्णाभाई डी. पटेल, आर्ट्स एंड कॉमर्स कालेज, कालावड (शितला), जिला जामनगर (गुजरात), मो. 9426391493

हिन्दी काव्यों में राष्ट्रीयता

राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत काव्य का सृजन तब हुआ, जब देश पर मुसलमानों के निरन्तर आक्रमण प्रारम्भ हो गए थे। यह समय हिन्दी साहित्य का आदिकाल था, अतः हमें राष्ट्रीय काव्य की परम्परा को हिन्दी के आदिकाल से ही देखना चाहिए।

खेद इस बात का है कि हिन्दी के आदिकालीन काव्य में यह राष्ट्रीयता मुखरित नहीं हुई। विभिन्न चारण कवियों ने यद्यपि विदेशी आक्रमणों के विरुद्ध अोजपूर्ण काव्य-रचना करके जनता में उत्साह का संचार किया, परन्तु उनका दृष्टिकोण केवल अपने जातीय आश्रयदाताओं की प्रशस्ति तक ही सीमित था। फिर भी उस युग के काव्य में हमें राष्ट्रीयता के अंकुर अवश्य दिखाई देते हैं। इस युग की राष्ट्रीय भावना अत्यन्त संकुचित थी, उसे विशुद्ध देश-भक्ति के अन्तर्गत नहीं लिया जा सकता है। पृथ्वीराज रासो, हम्मिर रासो, बीसलदेव रासो, आल्हाखंड आदि इस युग के राष्ट्रीय-भावना-प्रधान प्रमुख काव्य हैं। युद्ध क्षेत्र में मर-मिटने वाले योद्धाओं के शौर्य एवं साहस के अत्यन्त प्रभावशाली चित्र इन वीरगाथाओं में अंकित हुए हैं। यहाँ पर इन वीरकाव्यों के कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं

‘करतार हथ्य तलवार दिया
इह सुतत रजपूत कर।
रजपूत मरन संसार बर।’

वर्तमान आल्हाखंड की रचना श्रुति-परम्परा से चले आते हुए जगनिक के आल्हाखंड के आधार पर मानी जाती है। वर्तमान आल्हाखंड में लिखा है

‘बारह बरिस ले कूकर जीवै
औ तेरह लौ जियै सियार।’

बरस अट्टराह क्षत्रिय जीवै
आगे जीवन को धिक्कार ।।
जो मरि जेहौ रन खेतन में
तुमरो नाम अमर होई जाय ।’

आल्हाखंड की तो बात ही छोड़िए, क्योंकि उसमें तो कवि का मूल उद्देश्य आल्हा एवं उदल की प्रशंसा का गान करना ही रहा है। वास्तव में अन्य राष्ट्रीय कहे जाने वाले काव्यों में भी कवियों का उद्देश्य यही था। उसे हम व्यक्ति संयत कहें तो राष्ट्रीयता का भाव एवं अर्थ अपूर्ण रह जाता है, बल्कि असंगत हो जाता है। कुछ अंशों में जातीयता संयत राष्ट्रीयता कहा जा सकता है।

मध्ययुगीन हिन्दी काव्य में राष्ट्रीयता की भावना तनिक व्यापक रूप में उभरी इसे उस समय के सन्त एवं भक्त कवियों ने अपने भक्ति काव्य के माध्यम से राष्ट्र की विच्छिन्न राष्ट्रीय चेतना को फिर एक सूत्र में बाँधा, जनता की ऐक्य-चेतना को उद्बुद्ध किया और निराश जन-मानस में आशा एवं उत्साह का संचार किया। कबीर, नानक, तुलसी आदि युगचेता कवियों ने निर्भीकता से शासन की अनीतियों एवं राष्ट्र विरोधी विघटनकारी शक्तियों पर प्रहार किया तथा जन साधारण को उसके कर्तव्यों के प्रति सचेत किया। उस समय की राष्ट्रीयता यही थी और इससे राष्ट्र के भीतरी तत्त्व पुष्ट हुए। दूसरी ओर मुगल शासन की अनीतियों के विरुद्ध लोहा लेने वाले वीरों के उत्साहवर्धन के माध्यम से राष्ट्रीयता का प्रकट स्वरूप भी दिखाई दिया। कविवर पृथ्वीराज, सूर्यमल्ल तथा दुरसाजी ने उस युग में जनता को जागरूक करने लिए राष्ट्रीय भावनाओं से ओत-प्रोत कविताएँ लिखीं। जब कवि पृथ्वीराज ने राणा प्रताप द्वारा अकबर को सन्धिपत्र भेजने की बात सुनी तो उसने राणा को लिखा

‘पटकू मुछौ प्राण के पटकू निज तन करम ।
दीजै लिख दीवाण ईण दो महली बात ईक ।।’

अर्थात् आज हिन्दू गौरव के प्रतीक तुम अकबर की अधीनता स्वीकार कर रहे हो, यह जानकर मैं अपनी मूँछों को नीचा कर लूँ अथवा अपनी गर्दन पर तलवार चलाकर आत्महत्या कर लूँ? हे दीवान (महाराणा प्रताप की उपाधि) इन दो बातों में से एक मुझे लिखकर भेज दो।

इसके कुछ समय पश्चात् मध्यकाल के बाद रीतिकाल में भूषण जैसे राष्ट्रकवि ने हिन्दी काव्य गगन में जो राष्ट्रीयता की भेरी बजाई जिसकी प्रतिध्वनि अब तक सर्वत्र गुंजित है। भूषण की कविता पर हिन्दू-मुस्लिम सन्दर्भ में विचार करना सर्वथा अनुचित है, क्योंकि उनका आक्रोश मुगल शासन की उन अनीतियों के विरुद्ध प्रस्फुटित हुआ है, जो जन साधारण के लिए घातक सिद्ध हो रही थी। इसलिए उन्होंने मुगल दल अथवा दुष्ट समूह के मर्दन की ही बात अधिकतर कही है। छत्रसाल की

प्रशंसा करते हुए उन्होंने लिखा है

रैयाराव चम्पति के छत्रसाल महाराज,
भूषण से करिशा बखान को बलग के ।
पच्छी परछीने ऐसे परे परछीने वीर,
तेरी बरछी ने वर छीन है खलन के ।।’

जिस समय औरंगजेब के अत्याचारों से भारतीय संस्कृति खतरे में पड़ गई थी, उस समय छत्रपति शिवाजी ने वह कार्य किया, जिसका राष्ट्रीय दृष्टि से बहुत अधिक महत्त्व है। भूषण ने उन्हें राष्ट्र-रक्षक के रूप में ही देखा है

‘वेद रखे विदित पुरान परशिद्धे राखे,
राम नाम राख्यो अति रसना सुधार में ।
हिन्दुन की चोटी रोटी राखी है सिपाहिन की,
काँधे में जनेउ राख्यो, माला राखी गरमे ।।’

बाबर, हुमायूँ, अकबर आदि मुगल सम्राटों को भूषण ने बड़े ही आदर की दृष्टि से देखा है

‘बब्बर अकबर हुमायूँ उद बाँधि गए ।
दो मैं एक करिन कुरान वेख डब की ।’

आधुनिक हिन्दी काव्य में राष्ट्रीयता

आधुनिक हिन्दी साहित्य का तो विकास ही उस समय हुआ, जबकि समूचे राष्ट्र में ब्रिटिश शासकों के विरुद्ध स्वतन्त्रता का आन्दोलन चल रहा था, अतः आधुनिक हिन्दी काव्य में राष्ट्रीयता की व्यंजना होना स्वाभाविक था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और उनके युग के अन्य कवियों ने राष्ट्र की दुर्दशा का चित्रण करते हुए भारत की जनता को जाग्रत करने का प्रयत्न किया। भारतेन्दु की कविता में तो राष्ट्रीयता का स्वर बहुत तेज हो गया। भारतेन्दु ने भारत की दुर्दशा का चित्रण करते हुए देशवासियों को सचेत किया-

‘आवहु सब मिलकर रोवहु भाई । भारत दुर्दशा न देखी जाई ।।’

‘अंग्रेजों की अफगान-विजय’ कविता में अंग्रेजों की नीति का रहस्योद्घाटन बड़ी निर्भीकता से कवि ने किया है

‘सत्रु सत्रु लड़वाई दूर रहि लिखय तमासा
प्रबल देखिए जाहि ताहि मिलि दिजै आसा ।।’

नए जमाने की मुकारियों में कई मुकारियों का सम्बन्ध अंग्रेजों की शोषण नीति से है

‘भीतर भीतर नव रस चूसे।
हँसी हँसी के तन मन धन मूसे।
जाहिर बातन में अति तेज।
क्यों सखि साजन। नहि अंग्रेज।’

श्रीधर पाठक ने ‘मातृ-भूमि वन्दना’ में लिखा है

‘बन्दहु मातु भारत धसेन’

और

‘जय जय प्यारा भारत देश।’

स्वदेशी वस्तुओं के निर्माण पर बल देते हुए बालमुकुन्द गुप्त ने लिखा है

‘आओ एक प्रतिज्ञा करें, एक साथ सब जीयें मरें।
अपनी चीजें आप बनाओ, उनसे अपना अंग सजाओ।।’

‘हरिऔध’ जी ने अपने विभिन्न काव्यों में पौराणिक आख्यान प्रस्तुत करते हुए भी, उन पात्रों के माध्यम से मातृ-भूमि के प्रति अनुराग की प्रेरणा व्यक्त की। यही कार्य मैथिलीशरण गुप्त ने किया। उनकी ‘भारत भारती’ तो अपने समय में देश-भक्तों की गीता ही बन गई थी, जिसका आरम्भ इन पंक्तियों से हुआ है-

‘हम कौन थे क्या हो गए हैं, और क्या होंगे अभी,
आओ आज विचारें मिलकर ये समस्याएँ सभी।’

× × × ×

‘भारत लक्ष्मी पड़ी राक्षसों के बन्धन में।
सिन्धु पार वह विलख रही है व्याकुल मन में।।’

उन्हीं दिनों रामनरेश त्रिपाठी ने भी अपने काव्यों में कल्पित कथाओं के आधार पर देशवासियों को राष्ट्रीयता का सन्देश दिया

‘देश प्रेम वह पुण्य क्षेत्र है,
अमल असीम त्याग से विलसित।
आत्मा के विकास से जिसमें,
मनुष्यता होती है विकसित।।’

आधुनिक भारत में प्रथम स्वाधीनता संग्राम की वीरांगना लक्ष्मीबाई की स्मृति में श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान ने ऐसी ओजपूर्ण कविता लिखी, जिसे गा-गाकर राष्ट्रवीर और ललनाएँ जोश से भर जाती थीं

‘सन् सत्तावन में चमक उठी जो तलवार पुरानी थी,
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी।’

इसके उपरान्त तो हिन्दी काव्य में राष्ट्रीयता का जो प्रवाह उमड़ा, वह स्वाधीनता प्राप्ति (सन् 1947) तक वेग से चलता रहा। श्री सोहनलाल द्विवेदी, माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा नवीन, निराला और दिनकर जैसे अनेक कवियों ने राष्ट्रीयता का शंखनाद किया।

सोहनलाल द्विवेदी ने गाँधी जी की विचारधारा का अनुसरण करते हुए अहिंसात्मक युद्ध के लिए जनता को ललकारा था। उन्होंने लिखा था

‘न साथ एक अस्त्र हो, न हाथ एक शस्त्र हो।
न अन्न वीर वस्त्र हो, हटो नहीं हटो नहीं हटो नहीं।’

इस प्रकार गाँधीवादी विचारधारा की राष्ट्रीय धारा हिन्दी कविता में बराबर प्रवाहमान रही। चतुर्वेदी जी ने ‘पुष्प की अभिलाषा’ के बहाने राष्ट्रहित में बलिदान होने की कामना व्यक्त करते हुए लिखा

‘मुझे तोड़ लेना वनमाली, उस पथ पर देना फेंक।
बलिवेदी पर शीश चढ़ाने, जिस पर जाते हों वीर अनेक।।’

चतुर्वेदी जी ने भारतीय जवानों को ललकारते हुए कहा

‘रक्त है? या नसों में क्षुद्र पानी।
जाँच कर तू सीस दे देकर जवानी।।’

इसी प्रकार निराला ने राष्ट्र-रक्षा में अपना सर्वस्व न्यौछावर करने की इच्छा इन शब्दों में प्रकट की है

‘नर जीवन के स्वार्थ सकल
बलि हों तेरे चरणों पर, माँ
मेरे श्रम-संचित सब फल।’

कुछ कवि तो कोरी उथल-पुथल को ही प्रगति का चिह्न समझ बैठे थे। बालकृष्ण शर्मा ‘नवीन’ ने अपनी ‘विप्लव गान’ शीर्षक कविता में इसी उथल-पुथल का सन्देश दिया है

‘कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ जिससे उथल-पुथल मच जाए,
एक हिलोर इधर से आए। एक लहर उधर से आए।।’

राष्ट्रीयता का सबसे प्रखर और ओजस्वी स्वर हमें श्री रामधारीसिंह ‘दिनकर’ के काव्य में सुनाई देता है, जिन्होंने न केवल स्वाधीनता से पहले, अपितु उसके पश्चात् भी राष्ट्रीयता के विभिन्न तत्त्वों के संरक्षण हेतु देशवासियों को सदा सजग रहने की प्रेरणा दी। एक ओर विदेशी शासन का ध्वंस करने के लिए उन्होंने ललकारा

‘कह दे प्रलयकार से,
आज करें वे प्रलय नृत्य फिर एक बार।’

सारे भारत में गूँज उठे,
हर हर बम का फिर महोच्चार ।’

दूसरी ओर उन्होंने देशवासियों को स्वाधीनता की सुरक्षा के लिए सचेत करते हुए लिखा

‘स्वातन्त्र्य जाति की लगन, व्यक्ति की धुन है,
बाहरी वस्तु यह नहीं, भीतरी गुण है।
वीरत्व छोड़ मत पर का चरण गहो रे।
जापे पड़े आन, खुद ही सब आग सहो रे।’

परन्तु ‘दिनकर’ की राष्ट्रीयता संकुचित नहीं रही। वे राष्ट्रीयता को मानवता के शिखर तक पहुँचने का ही एक सोपान मानते हैं। इसलिए वे भारत राष्ट्र को समूची मानवता का प्रतिरूप मानते हुए कहते हैं

‘भारत नहीं स्थान का वाचक गुण विशेष नर का है
एक देश का नहीं शील यह भूमंडल भर का है।’

यद्यपि आज विश्व में युद्ध के घनघोर बादल छाए हुए हैं, संघर्ष का तांडव होने वाला है, किन्तु फिर भी राष्ट्रीयता शान्ति पथ की खोज में संलग्न है। इस शान्ति की खोज ने हमारी राष्ट्रीयता को सच्ची भारतीय राष्ट्रीयता बना डाला है। आज का कवि पुकार कर कह रहा है

‘शान्ति चाहिए, शान्ति चाहिए,
रजत आकाश चाहिए,
मानव हो मानव वह
महत प्रकाश चाहिए।’

आज के अनेक अन्य कवि भी समय-समय पर अपनी कविताओं द्वारा राष्ट्रीय चेतना का प्रसार करते रहते हैं। यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि केवल युद्ध, बलिदान, क्रान्ति और देश-भक्ति के घोष ही राष्ट्रीयता के चिह्न नहीं हैं। राष्ट्रव्यापी भ्रष्टाचार, अराजकता, अनैतिकता आदि का प्रतिरोध करना भी राष्ट्रीयता है। इस दृष्टि से आज हिन्दी के अनेक कवि, प्रबुद्ध कवि निस्सन्देह सच्ची राष्ट्रीयता का स्वरूप निर्धारित करने में जुटे हैं।

उपर्युक्त विवेचन के प्रकाश में हम कह सकते हैं कि भारतीय राष्ट्रीयता का स्वरूप बड़ा भव्य है। उसकी अन्तरात्मा बड़ी दिव्य है। उसकी प्रवृत्ति प्रकाशमयी है और उसका स्वर उल्लासमय है। उसके इसी स्वरूप ने भारत को भारत बनाए रखा है। भविष्य में भी वह उसे नूतन ज्योति तथा नित नई प्रेरणा प्रदान करती रहेगी।

पुस्तक-समीक्षा

कथा सनातन नये समय का नया उपनिषद्*

राधावल्लभ त्रिपाठी**

पुराणों में सनकादि चार भाइयों की कथा आती है। चार भाइयों के नाम हैंसनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार। चारों का जन्म एक साथ हुआ। वे ब्रह्मा जी के मानसपुत्र हैं। अनन्त काल से चारों नित्य पाँच वर्ष की आयु पर ठहरे हुए हैं। सनकादि चार कुमारों की कथाएँ रूढिभंजक विचारकों का वृत्तांत प्रस्तुत करती हैं। श्रीमद्भागवत (3.13) कहता हैब्रह्मा ने ध्यानपूत मन से चार कुमारों की सृष्टि की, और उनसे कहाहे पुत्रो, तुम प्रजा का सृजन करो। वासुदेवपरायण तथा मोक्षधर्मा चारों कुमारों को पिता की यह बात अच्छी न लगी। वामन पुराण के अनुसार चारों भाई धर्म की पत्नी अहिंसा से जन्मे। उनकी जिज्ञासा का शमन करते हुए ब्रह्मा ने उन्हें सांख्य और योग का उपदेश दिया, तो चारों योगशास्त्र के प्रवर्तक बने। ब्रह्मवैवर्तपुराण (अ. 129) सनत्कुमार का वर्णन करते हुए कहता है कि वे सृष्टि के आरम्भ में जन्मे, सदा पाँच साल के रहते हैं, वे चूड़ा (शिखा या चोटी) धारण नहीं करते, यज्ञोपवीत नहीं पहनते, वेद और संध्यावन्दन से मतलब नहीं रखते। उनके गुरु नारायण हैं, और वे कृष्ण के मंत्र का जाप करते रहते हैं।

सनत् और सनातन ये नाम सनातन काल के बोधक हैं। अनन्त काल तक एक चिर कुमार रहने के कारण सनत्कुमार यह सामान्य नाम भी इन चारों भाइयों का प्रचलित हुआ। अनन्तकालकल्प ये चारों भाई वैष्णवों के अधीश और ज्ञानियों के गुरुओं के भी गुरु कहे गए हैं। भूः, भुवः, स्वः, महः, तपः, जनः, सत्यम् ये सात लोक धरती से लगा कर क्रमशः ऊपर स्थित हैं। सनकादि भाइयों को इनमें से जन नामक लोक में प्रतिष्ठित माना जाता है (स्कन्दपुराण काशीखंड)। काशिका में प्रत्याहारसूत्रों

*कथा सनातन (उपन्यास) रमेशचंद्र शाह, राजपाल एंड सन्ज, दिल्ली, 2012

**प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी, कुलपति, राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, मानित विश्वविद्यालय (मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार के अधीन)

या शिवसूत्र के विषय में कहा गया कि सनक आदि सिद्धों का उद्धार करने की इच्छा वाले (उद्धर्तुकामः सनकादिसिद्धान्) नटराज ने अपने नृत्य के अंत में ढक्का का निनाद किया जिससे चौदह महेश्वरसूत्रों की उत्पत्ति हुई।

इस प्रकार ब्रह्मलोक से निर्वासित सनकादि चार भाइयों का ज्ञान की परंपराओं में कई प्रसंगों में स्मरण किया जाता रहा है। वैष्णव धर्म के चार संप्रदायों में सनक संप्रदाय भी एक है। पुराणों के अतिरिक्त अठारह उपपुराण हैं, उपपुराणों में सनत्कुमार उपपुराण का नाम पहले लिया जाता है। तन्त्रपरंपरा में आगमतत्त्वविलास में सनत्कुमार चौंसठ तन्त्रों में एक कहा गया।

सनकादि चारों भ्राता सृष्टिप्रपंच की दृष्टि से नाकारा साबित हुए, क्योंकि चारों सत्त्वमय थे, केवल सत्त्वगुण से सृष्टि नहीं हो सकती। सृष्टि के लिए तीनों गुण अपेक्षित हैंसत्त्व, रजस् और तमस्। ये तीनों गुण एक साथ रहें, पर साम्य और सात्म्य की अवस्था में रहे, तब भी सृष्टि नहीं होगीसृष्टि तो इनमें विचलन से होती है। पौराणिक कथाओं के अनुसार चारों सनकादि भाइयों ने वेदों का अध्ययन किया, वेदों में समान रूप से निष्णात हुए। चारों ब्रह्मचारी बने रहे। निरंतर यात्रा करते रहे। ऐसे ही यात्रा के क्रम में वे एक बार वैकुण्ठ जा पहुँचे। विष्णु के द्वारपालों जय और विजय ने उन्हें वहाँ अंदर घुसने ही नहीं दिया, तब सनकादि भ्राताओं ने इन दोनों को श्राप दे डाला।

सनकादि के एक अन्य आख्यान में, जिसे रमेशचन्द्र शाह ने अपने उपन्यास कथा सनातन में अपनाया है, इन चारों भाइयों का दक्षिणामूर्ति से साक्षात्कार कराया गया है। इस आख्यान के माध्यम से रमेशचन्द्र शाह कथा सनातन को मनुष्य के अस्तित्व के मूल प्रश्नों के विचार का जरिया बनाते हैं। उपन्यास में आधुनिक सनत्कुमार अपने तीन सहयात्रियों की उपस्थिति में सनत्कुमारों के ब्रह्मलोक से निर्वासन के पौराणिक मिथक पर लिखी अपनी कविता पढ़ते हैं, जिसमें मनुष्य के द्वारा की गई परमपिता के प्रति प्रथम अवज्ञा की कथा मनुष्य की आद्य जिज्ञासा की कथा बन जाती है।

शाह ने सनकादि की कथा का वह रूपान्तर स्वीकार किया है, जिसमें वे सृष्टिकर्ता ब्रह्मा के आदेश को मानने से इंकार करते हैं। इस तरह वे आद्य विद्रोह और प्रश्न करने के अकुंठ साहस के प्रतीक हैं। सनकादि का प्रश्न है कि वे सृष्टि क्यों करें? पहले पिता ब्रह्मा उनकी जिज्ञासाओं का समाधान करें। इस पर प्रजापति बिगड़ उठते हैं। मनुष्य प्रश्न करने की प्रवृत्ति और प्रश्न को दबाने की प्रवृत्ति दोनों के आद्य बिंब इस कथा में हैं। शाह *पेराडाइस लास्ट* और *पेराडाइस रिगेंड* के मिथक को दक्षिणामूर्ति स्तोत्र वाले प्रसंग का आधार ले कर पर सनकादि के मिथक पर लागू करते हैं। साथ ही, अपने उपन्यास में वे सनकादि चारों भाइयों को समकालीन संसार में पुनः स्थापित करते हैं। वे उनकी चरित्र रेखाओं को भी उकेरते हैं। उपन्यास के भी चार पात्रों के

नाम वे ही रख गए हैं जो सनकादि मिथकीय चार भाइयों के। उपन्यास के इन चारों पात्रों में भी मिथक के सनकादि भाइयों की तर्ज पर सनक उग्र में सबसे बड़े हैं। वे तीनों मित्रों की खारित करते हैं, एकट्विस्ट हैं, कम्युनिस्ट रह चुके हैं, सम्पन्न घराने के हैं और सद्गृहस्थ हैं। वे पुरातत्त्वविशेषज्ञ भी हैं। उनके बाद सनातन सबसे बुजुर्ग हैं, उनका एक नाम सनत्कुमार भी रखा गया था, जो स्वीकार्य न हुआ। मुख्य पात्र वे ही हैं, पिता से झगड़ा, तर्क और विद्रोह भी वे ही करते हैं। वे एक प्रतिष्ठित पर्यावरण विशेषज्ञ हैं। प्रलय की व्याख्या करते हुए वे उसे एक *इकोलॉजिकल डिसास्टर* बताते हैं। अपने पिता से की गई बहस की स्मृतियाँ निरंतर उनके साथ चलती हैं। पिता का दिया नाम वे बदल लेते हैं, शंकर और सनत्कुमार से सनातन बनते हैं। शंकर के संकर और वर्णसंकर में बदल जाने का खतरा है, तो सनत्कुमार की सनद और सनी में विपरिणति का। सनत्कुमार कालेज में प्राध्यापक और कवि हैं। सनन्दन आस्थाशील व्यक्ति हैं। शाह इन भाइयों के नामों से रूपक गढ़ते हैं, सनत्कुमार सनातन की पर्यावरण पर लिखी पुस्तक का अनुवाद करते हुए उनके *क्रियेटिव* भाष्यकार बन जाते हैं।

सनकादि के मिथक को उपन्यास के चार भाइयों से जोड़ने के पीछे एक अभिप्राय यह भी प्रतीत होता है कि जिस तरह सनकादि चारों भाई ज्ञान और अनुभव में अत्यन्त वृद्ध होते हुए भी काया में पाँच वर्ष की आयु पर ही शाश्वत काल के लिए ठहरे रह गए हैं, उसी तरह उपन्यास के चारों भी उग्र की परवाह किये बिना जी रहे हैं।

उपन्यासकार के अनुसार यह उपन्यास सनातन की जीवनी की अर्क है, आत्मकथा के साथ परमात्म-कथा भी है, माता-पिता के बिम्ब जातीय आद्य बिम्ब हैं, जो उनकी स्मृतियों में पिरोये हुए हैं।

उपन्यास सनातन को केंद्र में रख कर समग्र परंपरा पर कुछ प्रश्न भी उठाता है और भारतीय परंपरा में आद्य विद्रोह का पुनराविष्कार ही नहीं उसकी की पुनर्मांसा भी प्रस्तुत करता है। यह आद्य विद्रोह पश्चिम की या बाइबिल की परंपरा के आद्य विद्रोह से किस तरह भिन्न हैयह सवाल और उस पर खासी बहस शाह अपने चारों पात्रों की बातचीत में उठाते हैं। शाह ने उचित ही बाइबिल की आदम के निष्कासन और सनकादि चारों भाइयों के ब्रह्मलोक से निर्वासन की दोनों कथाओं में बुनियादी फर्क की ओर ध्यान दिया है। इसी तरह अवतार और मसीहा में बुनियादी फर्क है।

सनकादि के आद्य विद्रोह को नकारने वाले ब्रह्मा के अपूजित होने का प्रश्न भी इस चर्चा में अनुषक्त है। उपन्यास इस चर्चा को फैलाव देता चलता है, जिसमें सामी और गैर-सामी, पेगन और नान-पेगन, भारतीय और पश्चिमी परम्पराओं को लेकर अन्य कई अवान्तर प्रश्न जुड़ते जाते हैं।

आधुनिक सनकादि के परस्पर विमर्श में दर्शन इतिहास मिथक के अनेक पहलू खुलते हैं। यह एक गैर पारम्परिक उपन्यास है, कथा का ढाँचा बहुत ढीला है, जितनी कथा है, वह भी विचार और संवाद के लिये है। वह दरअसल यहाँ विमर्श का माध्यम बन गई है। इस चर्चा में आदम की पहली हुक्मउदूली के संदर्भ के साथ मिल्टन के *पेराडाइस लास्ट* की पंक्ति *आफ मॅज फर्स्ट डिसओबिडिएंस...* बार-बार गूँजती है। आदम को ज्ञान के पेड़ का फल चखने से मना किया गया है। सनातन अपने आप से तर्क करते हुए परमपिता को प्रश्न उठाने वाली अपनी ही संतान से भयभीत मानते हैं, ईश्वर के मिथ का भंजन करने वालों पर उस मिथ के द्वारा अपनी सत्ता चलाने वाले समाज के ठेकेदार भयभीत होते हैं। भारतीय परम्परा क्या जिज्ञासा को पोसती है, या दबाती है? इस दृष्टि से ज्ञान के वृक्ष का फल चखने की चेष्टा के नचिकेता के द्वारा यम से प्रश्न के रूप में भारतीय संस्करण का उल्लेख जो शाह ने किया है, बहुत मननीय है। वे योरोपीय मिथकशास्त्र के विद्रोह और चुनौती के अन्य प्रसंगों का भी तारतमिक संबंधों पर विचार करने की दृष्टि से उल्लेख करते हैं जैसे प्रमथ्यु या लुसिफर का विद्रोह।

कथा सनातन का कलेवर उपनिषदों के बहुत निकट है। सारे मुख्य उपनिषद् संवाद शैली में हैं, उनमें सत्य के सन्धाताओं और जिज्ञासुओं के बीच बातचीत है। कथा सनातन का अधिकांश ढाँचा इसी तरह संवादों के ताने-बाने में पिरोया हुआ है। यहाँ संवाद बहुस्तरीय हैं भारतीयता के बहुलधर्मी जगत् में घटने वाला संवाद वैश्विक संवाद की शक्ति भी ले लेता है, जब पश्चिम के एक वैज्ञानिक पर्यावरणविद् जो भारतीय धर्म दर्शन में रुचि रखते हैं, उनसे सनातन की लंबी चर्चा दोनों परंपराओं में मूल्य और दृष्टि के फर्क को लेकर होती है। स्याहीदेवी, कासारदेवी के मंदिरों और कोसी की बाँक के दृश्य के बीच यह चर्चा चलती है। देकार्त, विद्या:अविद्या, वेद:पुराण, दूरदर्शन के चैनल, पुरुषार्थ और मूल्यबोध, इविल की समस्या, त्रासदी का भारतीय बोध, रचनात्मकता और आत्मचेतन होना: इन सारे सवालों से चारों पात्र टकराते हैं। *मनीषापञ्चकम्* के आत्मस्वरूप विषयक श्लोकों की (जो दुर्भाग्य से यहाँ थोड़े अशुद्ध छपे हैं) व्याख्या के साथ बृहदारण्यक उपनिषद् में प्रजापति के द्वारा देव, मनुष्य और असुरों को दकार के द्वारा दिये गये उपदेश का भी उल्लेख इस बातचीत में उपन्यासकार ने किया है (बृहदारण्यक उपनिषद् पंचम अध्याय के दूसरे ब्राह्मण में प्रजापति देवों के लिये दाम्यत, मनुष्यों के लिये दत्त और असुरों के लिये दयध्वम् इस क्रम में दकारत्रय का उपदेश करते हैं किंचित् क्रमभंग और अशुद्धि इसकी चर्चा भी *कथा सनातन* में हुई है)।

इसी क्रम में उपन्यास के पात्र दो समकालीन विचारकों से आमना-सामना करते हैं। एक हैं अनिर्वाण, दूसरे गुर्जिफ़। जिन अनिर्वाण से सनातन की भेंट बचपन में कभी हुई थी, उनकी बुद्धियोग आफ गीता एंड अदर एस्सेज नाम से 1991 में छपी किताब

चालीस बरस बाद उसके हाथ लगती है। शंकराचार्य के *मनीषापञ्चकम्* और गुर्जिफ़ के चिंतन के हवाले से शाह भारतीय दृष्टि से विद्रोह की सार्थक परिणति आत्मचेतना में निरूपित करते हैं, जहाँ सम्पूर्ण श्रद्धा सम्पूर्ण शंकाओं को व्यक्त करने के अनंतर ही हासिल हो सकती है। इसी क्रम में यह चर्चा पर्ल बक के उपन्यास *दि पेवीलियन आफ विमन* में रोम के चर्च से निष्कासित आन्द्रे के मन्तव्य से जुड़ती है, जो मानता है कि परम पिता परमेश्वर और मनुष्य के बीच कोई भेद नहीं है, मनुष्य अपनी अन्तरतम सत्ता में ईश्वर ही है।

उपनिषद् का शाब्दिक अर्थ होता है निकट बैठना। *कथा सनातन* में होने वाली सारी चर्चाएँ एक सामीप्य में घटित होती हैं, और वे पाठक से भी उसी सामीप्य की माँग करती हैं, जो हमारे समकालीन संसार में असुलभ होता जा रहा है।

इस अर्थ में *कथा सनातन* एक दुर्लभ विमर्श में सम्मिलित होने के लिये आमंत्रित करने वाला अनोखा उपन्यास है।

शब्द तो कुली हैं*

रमेश दवे**

वरिष्ठ कवि सरोज कुमार की एक व्यंग्यकार-कवि के रूप में स्थापित छवि को तोड़ती उनकी कविताएँ शब्द तो कुली हैं, संग्रह में पढ़कर लगा कि व्यंग्यकार केवल व्यंग्य नहीं लिखता बल्कि वह जीवनगत विसंगतियों, विडम्बनाओं, व्यथाओं और विचारों के जिस भाव-पथ से गुजरता है, उन्हें अपने शब्द देकर अपना आन्तरिक मर्म भी उजागर करता है ! शब्द को 'कुली' की संज्ञा देकर सरोज कुमार शब्द की अभिजातीय वृत्ति में जीते लेखकों का अहंकार खंडित करते हैं। शब्द का श्रम किसी भी भौतिक श्रम से बड़ा होता है, एक कवि के लिए। इसीलिए रवीन्द्रनाथ कविता का जन्म प्रसव-पीड़ा की तरह मानते थे। शब्द जब श्रम-साध्य होते हैं तो उनसे पसीने की गन्ध आती है जो कविता में सुगन्ध पैदा करती है। शब्द जब कुली बनता है, तभी तो वह पूरे सृजन का बोझ उठा पाता है। अंग्रेजी में एक कहावत प्रचलित है कि भाषा में व्यंग्य रचना भाषा को नचाना है। भाषा का यह नृत्य ही तो शब्द घुँघरू बनकर पैदा करते हैं। उत्तर-आधुनिक भाषाविद् इसे भाषा का खेल कहते हैं। अमृत राय ने जब प्रेमचन्द को 'कलम का सिपाही' कहा तो 'शब्द' ही तो सिपाही बनकर उतरे थे प्रेमचन्द की कलम में। यदि शब्द का 'सिपाहीपन' शब्द की शक्ति का प्रतीक है तो शब्द का 'कुलीपन' श्रम की शब्द में प्रतिष्ठा है।

सरोज कुमार के ये पचास से अधिक कविताएँ तीन प्रकार से पढ़ी जा सकती हैं एक उनके रागतत्व में जो यथार्थ के साथ जुड़ा है, दूसरे विचार-तत्त्व में जो उन्हें वर्तमान विडम्बनाओं के विरुद्ध व्यंग्य के लिए उकसाता है और तीसरे उनके भाषा पक्ष में जो शब्द के कुलीपन को सार्थक करती है। सरोज कुमार के पास देश-विदेश के

* शब्द तो कुली हैं (कविता-संग्रह), कवि : सरोज कुमार, प्रकाशक : शिल्पायन, 10295, लेन नं.1, वेस्ट गोरखपार्क शाहदरा, दिल्ली-32; मूल्य : 150 रुपये

** रमेश दवे. सम्पादक, पूर्वग्रह, भारत भवन, भोपाल, एस एच 19 ब्लॉक- 8, सहयाद्रि परिसर, भद्रभद्रा रोड, भोपाल (म.प्र.); फोन-0755-277048 मो. 09406523071

अनुभवों की रंग-बिरंगी दुनिया है, लेकिन अनुभव को अनुभव की तरह डायरी या जीवनी में भले ही लिखा जा सकता हो, कविता में तो अनुभव सृजन हो जाता है, कविता या कहानी अनुभव को भाव-संज्ञा में रूपायित और व्यंजित कर देती है। इसलिए यह भी कहा जा सकता है कि सरोज कुमार की ये कविताएँ अनुभव की सृजन-मुद्राएँ हैं।

सरोज कुमार की कविताएँ एक चेतनावान कवि के संवेदन की कविताएँ हैं। वे न तो व्यर्थ का अतीत-मोह रचती हैं, न भविष्य की आकांक्षाएँ। वे तो अपने वर्तमान का सम्बोधन और निरूपण हैं। यह वर्तमान अपने देशज भूगोल से परिचालित है और इसमें एक प्रकार का क्षुब्ध किन्तु अहिंसक आक्रोश है जो भारत के वर्तमान की विद्रूपता से स्पन्दित है। राष्ट्रगीत, कविता तो एक ऐसी कविता है जिसमें उन सबके विकृत चेहरे किसी श्रद्धांजलि की उदासी की तरह लगते हैं—“वे नहीं गाते राष्ट्रगीत/महानता की फ्रेम में जड़े हुए /... भारत भाग्य विधाता...वगैरह /इस अदा से सुनते हैं/मानो उनकी ही प्रशस्ति हो/।” यह पूरी कविता राजनीतिक चरित्र के पतन की प्रस्तुति है। आगे 'कलकलवती नदी' में नदी के रूपक से वे आज के मनुष्य की नियति प्रकट करते हैं।...“कुछ मोड़ याद आते हैं/जहाँ सही-गलत मुड़ा था। कुछ जोड़ याद आते हैं/ जहाँ सही-गलत जुड़ा था/...इतिहास में घुस कर/कुछ पन्ने फाड़ने-चिपकाने की/इजाजत क्यों नहीं है?/। 'प्रकृति' जैसी कविता एक प्रकार से हर व्यक्ति के आत्म-स्वीकार की कविता लगती है—“मेरे अपने / कोई रहस्य नहीं थे/तुम्हारे पास ही अज्ञान था/।” 'मछली-तंत्र' कविता तो इस संग्रह की उपलब्धि कही जा सकती है। “जिसका हो समुंदर/क्या है कोई मछली?/जिसकी हो झील /क्या है कोई मछली?/ जिसकी हो नदी /क्या है कोई मछली ?/... पानी, मछली, नदी, झील, समुन्दर सबकी विडम्बना कहती यह कविता क्या यह नहीं कहती है कि हमारा जल-बोध, प्राणि-बोध, और मनुष्य-बोध कितना संवेदन-हीन हो गया है?

“कविता की कोई मैकमोहान रेखा नहीं होती” कविता नहीं है मेरी विवशता /हवा और पानी की तरह/”ये पंक्तियाँ उन सीमान्तों की तोड़ती है जो साहित्य की भी सीमाएँ बनाते हैं, कभी विचारधारा के नाम पर, यथार्थ के नाम पर, कला या अभिजात के नाम पर। 'कविता' शीर्षक वाली कविता कवि के अप्रतिबद्ध, सीमान्त-विहीन सर्वथा स्वतन्त्र और उदात्त विचार की प्रतिनिधि है। “जरूरी था तूफान”...इस कविता में “बड़ी-बड़ी मछलियों के गिरोह” समय में जीते, अवसरों को लूटते और तरह-तरह के पाखंडों में लिप्त लोगों पर क्रूर व्यंग्य है। “अमरूद” कविता हमारी शिक्षा में जारी और शिक्षा से पैदा होते सामाजिक अन्याय के प्रति एक शिक्षक के सन्ताप की अभिव्यक्ति है। संग्रह की शीर्षक कविता “शब्द तो कुली हैं” कविता के अपने मन्तव्य की प्रस्तुति है। शब्द किसके कुली हैं विचार के, विचारधारा के, सृजन के, मनुष्य की राग-वृत्ति के, अनुभव के, संवेदन के या अन्य उन समस्त सन्दर्भों के जो जीवन से

जुड़ते हैं? 'कुली' की बहु-अर्थात्मक संज्ञा को कवि ने जिस प्रकार व्यक्त किया है इस कुली का भौतिक कुलीत्व कविता में एक रूपक बन जाता है और कुलीपन फिर भी कुलीन की संज्ञा न बनकर, शब्द की आन्तरिक अर्थ-शक्ति का वाहक बनता है।

संग्रह की कविताएँ राजनीतिक भी हैं, अराजनीतिक भी, व्यंग्यात्मक भी हैं, विचारात्मक भी, कहीं-कहीं अभिधात्मक तो कहीं व्यंजनात्मक। ऐसा भी लगता है कि कवि कभी-कभी अपनी काव्य-प्रकृति को विस्तार देने के लिए शब्द में कविता को फैलाता भी है, जबकि ऐसा आवश्यक नहीं था। जहाँ कविता किसी विचार या संवेदन में पूरी हो गई हो, वहाँ से उसे सन्देश-वाहक बनाकर आगे ले जाने से कविता के राग-रस की हानि होती है। सरोज कुमार के पास हिन्दी का भाषा-संस्कार तो है ही, साथ ही संगीत, चित्रकला, मूर्तिशिल्प के प्रति अपनी गहरी रुचि के कारण उनकी कविताओं में जो ध्वन्यात्मकता है या जो चित्र-छवियाँ हैं, वे इस संग्रह को अधिक गहराई और शब्द की अर्थात्मकता बहुलता से पढ़ने को प्रेरित करती हैं। एक वरिष्ठ कवि का अपने वर्तमान में इतना स्पन्दनशील होना, कविता की प्रकृति के साथ कवि की चेतना का भी प्रमाण है।

समीक्षा

अप्रस्तुत-योजना : स्वरूप और विश्लेषण**

वरुण कुमार तिवारी*

अप्रस्तुत-योजना काव्य-भाषा का एक महत्वपूर्ण तत्त्व है। इसके अंतर्गत अलंकार, प्रतीक, बिंब, शब्द-शक्ति, ध्वनि, रस, वक्रोक्ति, रीति-गुण, औचित्य आदि काव्य-सिद्धांत आते हैं। इन सभी काव्य-सिद्धांतों में किसी न किसी रूप में अप्रस्तुत की सौम्य उपस्थिति है। अतः अप्रस्तुत-योजना काव्य-सौंदर्य के विधायक तत्त्वों में से महत्वपूर्ण तत्त्व है। इसका विश्लेषण आलंकारिक या रसवादी या ध्वनिवादी दृष्टि से नहीं होता, बल्कि अप्रस्तुत-योजना काव्य में स्वतंत्र व्याख्या की माँग करती है। इस विषय पर ख्यात आलोचक डॉ. कामेश्वर पंकज की सद्यः प्रकाशित पुस्तक है *अप्रस्तुत योजना : स्वरूप और विश्लेषण*, जिसमें विस्तार से अप्रस्तुत योजना के स्वरूप का निर्धारण और उसका विश्लेषण हुआ है।

प्रस्तुत ग्रंथ लेखक के शोध-प्रबंध 'महादेवी वर्मा के काव्य में अप्रस्तुत-योजना' का एक अंश है। शोध-प्रबंध से पुस्तक तैयार करना कठिन कार्य है, लेकिन लेखक ने श्रमपूर्वक इस कार्य को पूरा कर लिया है। चार अध्यायों में विभाजित प्रस्तुत पुस्तक के प्रथम अध्याय में प्रस्तुत और अप्रस्तुत का निर्धारण हुआ है। अप्रस्तुत एक काव्य-शिल्प है। इसका क्षेत्र बहुत व्यापक है। अभिव्यंजना-शिल्प के सभी उपकरण इसके अंतर्गत आते हैं। प्रतीक, बिंब, लक्षणा, व्यंजना आदि काव्य-सौंदर्य के अनेक साधन अप्रस्तुत की परिधि में आ जाते हैं। अप्रस्तुत काव्य-सौंदर्य के विधायक तत्त्वों का उद्गम स्रोत है, इसके अंतर्गत केवल वाच्यार्थ ही नहीं आते, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ भी आते हैं।

*स्टेट बैंक कॉलोनी, वीरपुर854340 (बिहार)

**अप्रस्तुत-योजना : स्वरूप और विश्लेषण, डॉ. कामेश्वर "पंकज", आयुष पब्लिशिंग हाउस, 1/10825, सुभाषा पार्क, नवीन शाहदरा, दिल्ली, मूल्य-195 रु. (सजिल)

प्रस्तुत और अप्रस्तुत के विवेचन के प्रसंग में लेखक ने दोनों के अंतःसंबंध, दोनों के सापेक्षिक महत्त्व, मूल प्रवृत्ति, काव्य में इसका निरूपण इत्यादि पहलुओं पर विस्तार से विमर्श किया है। इस संबंध में विद्वान लेखक ने आचार्य कुंतक, पाश्चात्य कला-समीक्षक क्रोचे, आधुनिक आलोचक रामचंद्र शुक्ल और डॉ. नगेंद्र के विचारों का उल्लेख करते हुए अपना अभिमत दिया है, जो बिलकुल समीचीन है, वह यह कि अप्रस्तुत प्रस्तुत तक पहुँचने का एक माध्यम है और प्रस्तुत में पहुँच जाना ही उसका लक्ष्य। मुख की कल्पना कमल से की जाती है तो कमल की कमनीयता का बोध मुख पर आरोपित होता है। फिर वह मुख की कमनीयता का बोध कराकर उसी में लय हो जाता है।

लेखक के अनुसार अप्रस्तुत-योजना के प्रस्तुत और अप्रस्तुत मूर्त या अमूर्त रूप का पारस्परिक संयोजन चार तरह से हो सकता है—मूर्त प्रस्तुत के लिए मूर्त अप्रस्तुत की योजना, मूर्त प्रस्तुत के लिए अमूर्त अप्रस्तुत की योजना, अमूर्त प्रस्तुत के लिए अमूर्त अप्रस्तुत की योजना तथा अमूर्त प्रस्तुत के लिए मूर्त प्रस्तुत की योजना। अप्रस्तुत के स्रोत रचनाकार की कल्पनाएँ हैं। वस्तु जगत के साथ-साथ कवि की कल्पना भाव-जगत तक अपनी उड़ान भरती है। इस विस्तृत फलक से कवि अप्रस्तुत का चयन करता है। कवि की कारयित्री प्रतिभा जितनी कुशाग्र होगी, उनके प्रस्तुतों, अप्रस्तुतों का संयोजन और स्रोत उतना ही उत्कृष्ट होगा। भाव-बोध के साथ-साथ भाव-सौंदर्य की सृष्टि करना इसका अनिवार्य धर्म है। अप्रस्तुत-योजना में सौंदर्य का वस्तुनिष्ठ पक्ष ही विशेष ग्राह्य है। भावों का उत्कर्ष ही अप्रस्तुत-योजना की सीमा और श्रेय है। लेखक ने आचार्य शुक्ल द्वारा निर्देशित अप्रस्तुत तथा प्रस्तुत के सापेक्षिक संबंध के सूत्रों का भी उल्लेख किया है।

अप्रस्तुत-योजना के आधार की चर्चा करते हुए लेखक ने यह सही टिप्पणी की है कि अप्रस्तुत-योजना के क्षण में सर्जक की मनःस्थिति एक बिंदु पर स्थिर रहती है, वह है प्रस्तुत। अप्रस्तुत द्वारा कवि अपनी सूक्ष्म अनुभूति को सौंदर्य प्रदान करता है और अतिसंप्रेषणीय बनाता है।

द्वितीय अध्याय में लेखक ने भारतीय काव्य-शास्त्र के विभिन्न काव्य-सिद्धांतों में अप्रस्तुत की स्थिति का निरूपण किया है। इस महत्त्वपूर्ण अध्याय में शब्द-शक्ति का विवेचन-विश्लेषण है। काव्यगत अप्रस्तुत-योजना में प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत का संबंध निर्धारण करने में शब्द-शक्ति सिद्धांत मूल शक्ति के रूप में कार्य करता है। अप्रस्तुत-योजना के लिए भाषा को लक्ष्यार्थ और वाच्यार्थ की यात्रा करनी पड़ती है। इसमें अभिधा अपने अर्थ को लक्षणा और व्यंजना की चौखट तक पहुँचा देती है। अप्रस्तुत का विस्तार संपूर्ण लक्षणा में होता है। यहाँ लेखक ने लक्षणा के भेदोपभेदों में सादृश्यमूलक अलंकारों का साक्षात्कार करते हुए अप्रस्तुतों के योगदान का रेखांकन किया है। लेखक ने व्यंजना के भेदोपभेदों में भी अप्रस्तुत की स्थिति को स्पष्ट किया है।

ग्रंथकार ने अलंकार और अप्रस्तुत-योजना के संबंध को भी खंगाला है। अलंकारों में सदृश्य-धारणा अलंकार से ही जुड़ी हुई है। ग्रंथकार के अनुसार आचार्य भरत द्वारा उल्लेख्य रूपक, उपमा, दीपक तथा यमक अलंकारों में से प्रथम तीनों में अप्रस्तुत का ही अधिक महत्त्व है। आगे लेखक यह उद्घाटित करता है कि अप्रस्तुतों की स्थिति केवल सादृश्यमूलक अलंकारों तक ही सीमित नहीं है; 'साम्य' के आधार पर निरूपित अलंकार और लक्षणा, व्यंजना, मुहावरे आदि पर आश्रित अलंकारों का इनसे गहरा संबंध है।

लेखक के विचार में अप्रस्तुत-योजना अलंकार की अपेक्षा अधिक सूक्ष्मता और गंभीरता की माँग करती है। यह उपमेय-उपमान से ऊपर उठकर अपने सौंदर्य-तत्त्व की व्याख्या की अपेक्षा रखती है। लोगों की दुनिया इतनी बड़ी हो गई है कि शब्द जगत छोटे पड़ गए हैं। निराला की 'जूही की कली', मुक्तिबोध की रचना 'अँधेरे में', अज्ञेय की 'असाध्य वीणा' आदि रचनाओं की व्याख्या मात्र उपमा-रूपक आदि अलंकारों से संभव नहीं है।

लेखक ने आचार्य वामन एवं उनके पूर्ववर्ती आचार्यों भरत से लेकर दंडी तक और आनंदवर्द्धन, मम्मट तथा विश्वनाथ द्वारा वर्णित रीति तथा गुणों के भेदोपभेद में अप्रस्तुत को ढूँढने का कार्य किया है। लेखक के मत में शब्द-गुणों से अप्रस्तुत का कोई संबंध नहीं है, क्योंकि जहाँ अप्रस्तुत अर्थ-प्रधान है और अर्थालंकार आश्रित है, वहाँ शब्द गुण, वर्ण और शब्द प्रधान है और इनका संबंध शब्दालंकार से है। अतः शब्द गुण अप्रस्तुत की सीमा से बाहर है। निष्कर्षतः रीति और गुण में अप्रस्तुत का समावेश एक अनिवार्य तत्त्व की तरह नहीं होता और न ही अनायास आए हुए अप्रस्तुतों की व्याख्या रीतिवादी का लक्ष्य है, बल्कि अप्रस्तुत के समावेश से रीतिवादी व्याख्या में कोई व्यवधान नहीं होता।

ध्वनि-सिद्धांत में अप्रस्तुत-योजना के अन्वेषण के पश्चात् लेखक ने निष्कर्ष दिया है कि अप्रस्तुत व्यंजक बनकर ही ध्वनि में सौंदर्य की अभिवृद्धि करता है। अतः लेखक का निष्कर्ष है कि अप्रस्तुत की परिव्याप्ति भले ही समस्त 'ध्वनि' में न हो, परंतु स्थान-स्थान पर यह ध्वनि का अविच्छेद्य अंग है। इसी क्रम में लेखक ने वक्रोक्ति और अप्रस्तुत के संबंध के महत्त्व को भी उजागर किया है। औचित्य-सिद्धांत का भी विवेचन-विश्लेषण करते हुए लेखक ने उसमें अप्रस्तुत-योजना के महत्त्व को रेखांकित किया है।

रस के अवयवों में अप्रस्तुत-योजना की महत्ता को रेखांकित करते हुए लेखक ने यह स्थापना दी है कि यह नित्यधर्म नहीं होते हुए भी रस-प्रक्रिया में सर्वाधिक सहायक काव्य-तत्त्व है। नई कविता के आलोक में भी लेखक ने रस-प्रसंग पर विस्तार से विमर्श किया है। नई कविता रागात्मक कम है और बौद्धिक अधिक। लेखक ने डॉ. जगदीश गुप्त के कथन को उद्धृत किया है—'रसवादी कविता के प्रायः सभी लक्षण

नई कविता में नहीं मिलते, यहाँ तक कि भावुकता तक की कमी रहती है...अनगढ़ता में ही वह (नयी कविता) निखरती है। सजाने-सँवारने, खराद पर चढ़ाने में माँजने से उसकी सहजता नष्ट होती है।”

यह सच है कि नई कविता रागात्मक कम है और बौद्धिक अधिक। उसमें रसजनित भावों की योजना को अवकाश नहीं मिला है। आज अनिश्चय, क्षोभ, आक्रोश से मानव-मन व्यथित है। मानव-मन की इस टूटन से नए भाव बोध, का जन्म हुआ। इसकी अभिव्यक्ति के लिए शब्दार्थ के नए संबंधों की खोज हुई और उसे ग्रहण किया गया। नए प्रतीक, बिंब, लय इत्यादि की नई संरचना की गई। अभिव्यंजना और शैली पर अधिक बल दिया गया। इस प्रक्रिया में अप्रस्तुत को अधिक महत्त्व मिला है, अतः लेखक का कहना सही है कि नई कविता का सारा भाव-बोध अप्रस्तुत से गहरा जुड़ा हुआ है।

तृतीय अध्याय में काव्य-भाषा, प्रतीक, बिंब, मुहावरे आदि में अप्रस्तुत की उपस्थिति का विवेचन-विश्लेषण किया गया है। ग्रंथकार ने लोकभाषा और काव्येतर वाङ्मय की भाषा को काव्य-भाषा से पृथक् करते हुए इसके वैशिष्ट्य को रेखांकित किया है। काव्य भाषा सभी भाषाओं से पृथक् अपनी विशिष्टता की रक्षा करते हुए अपने आप में काव्य है। काव्य-भाषा की इकाई हैशब्द। शब्द को नए संदर्भ में चमत्कारपूर्ण अर्थ प्रदान करना इसकी रचना-प्रक्रिया में शामिल है। काव्य-भाषा की रचना-प्रक्रिया किसी निर्धारित नियम का अनुपालन नहीं करती है। यह स्वयं एक नियम है। यह जिस प्रक्रिया से गुजरती है, आलोचना का मानदंड वही हो जाता है। आलोचकों ने सुविधा के लिए काव्य-भाषा के तत्त्वों को सूचीबद्ध करने का प्रयास किया है। परंतु काव्य-भाषा की जितनी भी विशेषताएँ हैं, उनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता अप्रस्तुत-योजना ही है। लेखक के मत में अप्रस्तुत-योजना शिल्प की तरह प्रविष्ट होती है और गतिशील होते ही भाव-तत्त्व की आधारभूमि बनती है। यह गुण काव्य-भाषा के अन्य तत्त्वों में इतनी गहराई से नहीं मिलता है। काव्य-भाषा उपमानों, प्रतीकों, बिंबों द्वारा ही सौंदर्य-बोध कराती है। इन्हीं तत्त्वों द्वारा सामान्य भाषा काव्य-भाषा की ऊँचाई पाती है।

अनुभूति के जिन अंशों को कलाकार प्रचलित शब्दों के माध्यम से व्यक्त नहीं कर पाता है, उनके लिए प्रतीक का सहारा लेता है। पाश्चात्य विद्वानों ने प्रतीक पर पर्याप्त चर्चा की है। इनमें फ्रायड एवं युंग उल्लेखनीय हैं। प्रतीकों का क्षेत्र बहुत व्यापक होने के कारण इनके वर्गीकरण के आधार भी अनेक हैं। अप्रस्तुत अपने व्यापक अर्थों में प्रतीक के सारे विधानों को समेटे हुए हैं। काव्य-जगत में प्रतीकवाद आंदोलन (1989) प्रतीक के काव्यात्मक महत्त्व को लेकर ही आगे बढ़ा। लेखक ने प्रतीकवाद से प्रभावित ‘अज्ञेय’ के विचार का उल्लेख किया है—“प्रतीक सत्यान्वेषण

का मार्ग है और वह (कवि) प्रतीक द्वारा सत्य को जानता हैसत्य के अथाह सागर में वह प्रतीकरूप कंकड़ फेंककर उसकी थाह का अनुमान करता है।”

बिंब का काव्य में सर्वाधिक महत्त्व है। बिंब (इमेज) का अर्थ है मानसचित्र, जो काव्य में शब्दों द्वारा व्यक्त होता है। पाश्चात्य समीक्षा में बिंब के अभ्यंतर पक्ष को ही अधिक उकेरा गया है। भारतीय समीक्षकों ने बिंब के अभिव्यक्ति और ग्राह्य पक्ष को अधिक उजागर करने की चेष्टा की है। लेखक की दृष्टि में भारतीय काव्यशास्त्र में बिंब का सौंदर्य अलंकारों और शब्द शक्तियों में अंतर्निहित है। परंतु आधुनिक हिंदी साहित्य में विशेषतः छायावादी काव्य में बिंब अलंकार से पृथक् नए रूप में उभरकर आया। विचारकों ने बिंब के प्रकारों को अत्यधिक बढ़ा दिया है। लेकिन सभी प्रकार के बिंबों में अप्रस्तुत योजना का अवकाश और सौंदर्य होता है। मुहावरे और लोकोक्तियाँ भी अप्रस्तुतयोजना के दायरे में हैं।

चतुर्थ अध्याय में शोधकर्ता ने अप्रस्तुत-योजना का विनियोग दर्शाया है। इसमें केवल अलंकार, प्रतीक और बिंब-योजना में अप्रस्तुत के योगदान का विश्लेषण हुआ है। लेखक ने सादृश्यमूलक अलंकारों में अप्रस्तुतों की खोज के क्रम में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, समासोक्ति, अपहनुति, संदेह, उल्लेख, व्यतिरेक तथा मानवीकरण अलंकारों का सोदाहरण उल्लेख किया है। सभी उदाहरण छायावादी कवयित्री महादेवी वर्मा के काव्य से दिए गए हैं। प्रतीक एवं बिंब-योजना के उदाहरण भी महादेवी वर्मा के काव्य से दिए गए हैं।

इस प्रकार ग्रंथकार ने अप्रस्तुत-योजना की व्याप्ति भारतीय काव्यशास्त्र के विभिन्न काव्य-सिद्धांतोंध्वनि, रस, रीति आदिमें दिखाया है। अप्रस्तुत-योजना अलंकार, बिंब, प्रतीक, रस, ध्वनि, रीति आदि में जहाँ भी होती है, साधन के रूप में रहकर काव्य-सौंदर्य का वर्धन करती है।

वस्तुतः अप्रस्तुत-योजना आदि काल से ही कवियों को प्रिय रही है। संस्कृत साहित्य में कालिदास के लिए उपमा का ‘उपमा कालिदासस्य’ की उक्ति अप्रस्तुत-योजना से ही सार्थक है। ऐसे विषय पर इस शोध कृति का आना निश्चय ही प्रसन्नता की बात है। इसकी उपादेयता असंदिग्ध है। अतएव पुस्तक न केवल पठनीय है, अपितु संग्रह योग्य भी है। इस शोधकृति के लिए मैं डॉ. कामेश्वर पंकज को अपनी शुभांशाएँ देता हूँ।

उन्मन

डॉ. देवेन्द्र आर्य*

97 कविताएँ और 200 पृष्ठ। अधिकांश कविताएँ दो या तीन पृष्ठों की और इन पृष्ठों में जीवन-जगत् की संगति-विसंगतियों का विस्तृत लेखा-जोखा। परन्तु कहीं भी किन्हीं भी स्थितियों में न हार है और न हार कर जीवन/जगत् से समझौता है। अनन्त ऊर्जा और तेजस्विता से हर अनपेक्षित को करारी ठोकर मारकर आगे बढ़ निकलने का माद्दा है। अधिकार को, प्राप्य को छीनने का भाव है क्योंकि 'हाथ पसारने से कहाँ मिलता है अधिकार' (पृ. 19) योगी या भोगी होना महत्त्वपूर्ण नहीं है, महत्त्वपूर्ण है जो एक अदद जिन्दगी मुझे मिली है, वह उन्मुक्त है और उसका सम्पूर्ण सृजन अर्थवान है। शब्द के रथ पर सवार होकर लोक-लोकान्तरों की यात्रा केवल यात्रा के लिए नहीं बल्कि वर्षों से घने अन्धकार को विदीर्ण कर प्रकाश की अभ्यर्थना के लिए है।

कवियित्री डॉ. विमला उपाध्याय उन्मन हैं और ऐसा कवि/आत्मचेता जो सोते-जागते मनुष्य की बेहतरी का सपना देखता है। प्रकृति से राग बढ़ाने का सपना देखता है। जीवन-जगत् में सामंजस्य बनाने का सपना देखता है। नारी की महत्ता के अहसास का सपना देखता है। उसे अन्या या दोयम मानने पर गहरी प्रतिक्रिया व्यक्त करता है या आक्रोश के स्वरो को आकाश दे देना चाहता है। क्रान्ति की मशाल को उसकी हृद तक ले जाने की उत्कटता प्रदर्शित करता है वह 'उन्मन' हो जाए तो क्या होगा? एक भयंकर विस्फोट होगा, कविता का एक-एक शब्द/अक्षर अणु विस्फोट की मुद्रा धारण करेगा, विराट् का विराटत्व अनन्त ऊर्जा का संचयन करता हुआ कब बूँद से सागर हो जाएगा, पता ही नहीं चलेगा।

कवियित्री मृत्युंजयी है। कायरता या लिजलिजेपन से दूर। वह तो सुधा बीज बोने से पहले कालकूट पीने को उद्यत है। नियति के चलते अबाध चक्र में कालजयी

*डॉ. देवेन्द्र आर्य, वाणी सदन, बी-68, सूर्यनगर, गाजियाबाद-201011 (उ.प्र.)

**सूर्यप्रभा प्रकाशन, 2/6 अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002; प्रथम संस्करण 2012, पृ. 200, डिमाई, मूल्य 350 रुपए सजिल्द

की क्षमता वाला पुरुष दीन-हीन हो जाए, उसका दास हो जाए तो क्या विमला जी स्वीकार करेंगी? नहीं, वे पुरुष के पौरुष को जागृत करन चाहती हैं। जिसकी भुजाओं में हिमालय-सा बल हो और ललाट पर सौ सूरज दिपदिप करते हों, वही अँधेरे के व्यापक साम्राज्य को ध्वस्त कर सकता है। इसी में जिन्दगी की सार्थकता है

जिन्दगी दिन, माह, वर्ष में नहीं गिनी जाती
एक क्षण की सार्थकता एक पल की जीवन्तता
प्रेरक एवं महनीय ही गुणात्मकता है
जीना अर्थपूर्ण है।' पृ. 151

हम बड़े-बड़े मंचों पर स्त्री-विमर्श (पृ. 133) की बातें करते हैं, सदियों से गुलाम, पददलित, बन्दिनी नारी की मुक्ति की वकालत करते हैं। ठीक है औद्योगिक क्रान्ति की लहर से शहरीकरण का सूत्रपात हुआ। नारी घर की चौखट लाँघकर बाजार में आ गई। कामकाजी महिला के द्वार खुल गए। वह आसमान में परिन्दों की तरह स्वच्छन्द भाव से उड़ने लगी। पर क्या हुआ? आधी दुनिया पर ग्रहण लग गया। भ्रूण-हत्या का चक्र तेजी से घूमने लगा। बचपन विलुप्त और वात्सल्य छूमन्तर हो गया। बच्चों का शोषण और परिवार खण्डित होने लगा। गला काट प्रतियोगिता में औरत ही औरत की सबसे बड़ी दुश्मन बन बैठी। आज स्त्री न घर की है, न घाट की। उसके सिर पर विज्ञापन का ठीकरा फोड़ा जा रहा है। पर-पुरुष की आज्ञा की प्रतीक्षा में बँधी साम्राज्ञी है, पर डॉ. विमला उपाध्याय पूरी ताकत से कहना चाहती हैं कि 'नारी सिर्फ भोग्या नहीं, चिर जीवन साथी है, सहवास सारथी है, श्रेय-प्रेय का आदि और अन्त है, नारी स्वयं वरदान है, आदिशक्ति-आराध्या है, भक्ति, धर्म-कर्म की आधारशिला है।

आशा-आकांक्षा और ओज से परिपूर्ण कवियित्री डॉ. विमला जब स्त्री सशक्तिकरण की बात करती हैं तो एक और परिदृश्य उनके सामने खुल जाता है, वह उन्मन हो जाती हैं। 'अभिषप्त अन्या (पृ. 188) में वह कहती हैं कि बड़वानल के समान विकराल दहेज रूपी दानव के चंगुल में फँसी कन्या अन्या बन जाती है। "अभिषप्त-शिला-सी झेलती है/दहेज की मार/अन्दर-ही-अन्दर घुट-घुट वह मर जाती है। अन्तिम संस्कार की बकरी बन जाती है।' हालाँकि बेटी प्रकृति का सुन्दरतम अप्रतिम उपहार है, पर क्या नारी सह-अस्तित्व की स्वयं हकदार नहीं बन सकती? यह प्रश्न आज 21वीं सदी से पुकार-पुकार कर समाधान का उत्तर चाहता है। कवियित्री ने बुलन्द आवाज से नारीवाद की वकालत की है। इतिहास ने उस पर चाहे कितने भी अत्याचार किए हों, नितान्त भोग्या मानकर उसका शोषण किया हो, पर आज समय बहुत आगे निकल गया है। "आज नारी इस धरा का अभिन्न अंशज/वह जीतकर लाई गई बँटी विरासत नहीं। पाँच पति की पतिव्रता नहीं/...राम के अयाचित रजकण की

प्रतीक्षारत अहिल्या नहीं। अब भीष्म की अस्वीकृत जीतकर लाई/राजकुमारी नहीं, श्रेष्ठता की ग्रन्थि से प्रताड़ित, चिन्तनशील पुरुष की/वल्लरी नहीं।” (पृ. 157) वह आदि शक्ति है, भक्ति, धर्म-कर्म की आधारशिला है। डॉ. विमला उपाध्याय ने नारी के इस भावनात्मक ऊर्जामय भव्य रूप की सर्वत्र आराधना की है। मैं कवियित्री के इस भाव को प्रणाम करता हूँ।

बचपन में हम लोग एक गीत बड़े प्रेम और श्रद्धा भाव से गाते थे—“जो भरा नहीं है भावों से, बहती जिसमें रसधार नहीं/वह हृदय नहीं है पत्थर है, जिसमें स्वदेश का प्यार नहीं” कवि के भाव कवियित्री विमला जी के मन-प्राण में बसे हुए हैं। वे नौजवानों को सम्बोधित करते हुए कहती हैं कि ‘वतन’ के वास्ते जियो। वतन के वास्ते मरो।...तुम स्वदेश एवं स्वाभिमान की इबादत हो/विश्वशान्ति का अवदान तुम/कृपानिधान के वरदान हो। पूर्ण तुम सम्पूर्ण तुम/सत्चित आनन्द हो।” पृ. 22

“देश-प्रेम, देशभक्ति, राष्ट्रीयता जीवन की शक्ति है।...वसुधैव कुटुम्बकम् हमारा दर्शन है।” पृष्ठ (194) भारत के वरदपुत्रों को आह्वान करती हुई कहती हैं कि “तुम अपनी माटी के उज्ज्वल भविष्य हो।”

आज का बाजारवाद सब कुछ बाजार के हिसाब से सोचता और व्यवहार करता हैइसी के चलते हमारे सभी रिश्ते-नाते सम्बन्ध बाजार हो गए हैं। उपयोगिता को चलन हो गया है। माँ-बाप भी वृद्ध होने पर अनुपयोगी वस्तु भर रह गए हैं। हिन्दी के साथ भी यही हो रहा है। वैश्वीकरण की अन्धी दौड़ में हिन्दी भाषा का समस्त ऋत-अमृत विवादित होकर रह गया है। आज हिन्दी अपनी अस्मिता की तलाश में जूझ रही है। वैसे हिन्दी ज्ञान का सर्वांगीण आधार है। वेद, पुराण, उपनिषद्, चैतन्य विज्ञान का महासागर है। भारती आत्मा में रसी-बसी अन्तस की पुकार है। कवियित्री भावपूर्ण शब्दों में कहती हैं

“हिन्दी का ज्ञान भरपूर मान-सम्मान/हिन्दी का बोझ अतिपावन/रूप, रंग, रस अति मनभावन/...भारत की अधिकारिणी भाषा/उज्ज्वल भविष्य की आशा/...हिन्दी की गति प्रगति, और सुमति ही जिन्दगानी।” पृ. 199-200

डॉ. विमला उपाध्याय अमृत का आचमन लेकर आई हैं। वे मानती हैं ‘क्या जलेंगे पाँव नंगी दोपहर में/मैं हलाहल की अगन पीकर चला हूँ/मौत भी मेरे इरादों तक झुकेगी/जिन्दगी की वो सुधा पीकर ढला हूँ। (डॉ. देवेन्द्र आर्य) इस भाव, इरादे को लेकर जीने वाली कवियित्री कहीं सीधे-साधे तो कहीं परोक्ष रूप से व्यंजना का जहर उगलते हुए विपरीत परिस्थितियों से/विसंगतियों से टकरा जाती हैं। वे चाहती हैं कि मनुष्य जगे, अपने ‘स्व’ को पहचाने और यथास्थिति से समझौते की जगह टकराए, भिड़ जाए, चाहे टूटकर बिखर जाए...‘बाजारवाद के अजदहे ने/दबोचा है तुम्हें कसकर/अपना विराट् रूप बनाओ/फाड़ डालो उसे या फिर मिट जाओ। अपना नाम

शहीदों में दर्ज कराओ। (पृ. 3) ‘कलम एक औजार बन तोड़ेगी/सितम का चक्रव्यूह/...अधिकार से प्रहार कर तोड़ना है कड़ियाँ (पृ. 14)

कवियित्री लिजलिजे सपने और तज्जन्य कायरता से निकलकर व्यक्ति की अस्मिता की खोज करना चाहती है। सम्भव है अतीत की दंश या भविष्य/वर्तमान की विषमता भयभीत करे, लेकिन यह जीवन जीवन नहीं है, उठना, आगे बढ़ना ही जीवन है—“मैं तुम्हें जगाना चाहता हूँ/दुर्गा बनाना चाहता हूँ/तुम्हारी आँखों में सपने उगाना चाहता हूँ। (पृ. 58) पर सपने कैसे?” जिस जिन्दगी में जीवत अनुभूतियों का अहसास हो...हसरतों के साए में उगी धूप हो, मन्दिर के कलश-सी पवित्र ऊँचाई और सतत सलामत भरी जिन्दगी हो। (पृ. 83)

आतंकवाद आज के युग की सबसे बड़ी त्रासदी है—“विषदन्त से उपजा है यह आतंकवाद, निर्दोषों की हत्या कर उगी है यह नागफनी/अनाथ बच्चे, कोखहीन माँ, वैधव्य की शिकार पत्नी, बिलखते, चीखते, चिल्लाते मुर्दा समाज के निरीह प्राणी, बेबस इकाई, भूख और गरीबी की परछाई” परन्तु विडम्बना यह है कि सत्ताधारी खामोश हैं, बेबसी से हाथ बाँधे हैं, अन्धी, बहरी और बिलकुल गूंगी सरकार’। भला ऐसी पंगु और निष्क्रिय सत्ता से कोई आशा भी क्या करे? पर इसका विकल्प क्या है? कवियित्री कहती हैं कि ‘वसुधैव कुटुम्बकम् ही/अन्यतम विकल्प है।’ (पृ. 190)

डॉ. मृत्युंजय उपाध्याय के अनुसार (मेरा मत भी इसमें शामिल है) “डॉ. विमला जी की कविताएँ वैज्ञानिकता, भौतिकता, राजनीति का घोर पतन, मूल्यहीनता, मनुष्यता पर बार-बार फोकस दे रही हैं। कहीं प्राचीनता के कवच उतार जीवन-सत्य का उद्घाटन है तो कहीं आधुनिकता के छलछद्म पर मारक प्रहार। परन्तु सर्वत्र ध्यान है कि कविता जीवित है। उसका संगीत अणु-परमाणु में सर्वत्र बज रहा है। वह मनुष्यता का विजय अभियान चला रही है। हमारे युग-युग के सोए सपनों को साकार करने की तैयारी कर रही हैं जिसमें अखिल विश्व और मानवता समा रही है, (पहला फ्लैप)

इस तरह यह कविता-संग्रह, ‘उन्मन’ भूत, भविष्य और वर्तमान की इतनी दिशाओं में हमें ले जाता है कि गिनते-गिनते गिनतियाँ भी अधूरी रह जाती हैं। कवियित्री ने विषय को इतनी सम्पूर्णता से छुआ और वर्णित किया है कि आप सोचकर भी कोई नया तथ्य उजागर नहीं कर पाएँगे। मैं इतने विस्तृत और परिपूर्ण संग्रह से अभिभूत हूँ और भविष्य की ओर देख रहा हूँ किसी अन्य संग्रह के लिए। मेरी बधाई।

प्राप्ति-स्वीकार

पिछले अंकों में सूचीबद्ध पुस्तकों/पत्रिकाओं के अतिरिक्त प्राप्त नयी पुस्तकें/पत्रिकाएँ:

पुस्तकें:

साहित्यिक तुला पर वाल्मीकि-रामायण, विजय रंजन; प्रकाशक: अवध-अर्चना प्रकाशन, 4/14/41 ए महताब बाग, अवधपुरी कालोनी फेज-2, फैजाबाद-224001 (उ.प्र.); प्रथम संस्करण : सितम्बर 2011; पृष्ठ : 224; मूल्य : 300/ रुपये।

निकलेगा दिनमान, डॉ. देवेन्द्र आर्य; प्रकाशक: साहित्य सहकार प्रकाशन, 29/62, गली नं. 11, विश्वास नगर, दिल्ली-110032; प्रथम संस्करण: 2012; पृष्ठ : 96; मूल्य: 200/ रुपये।

पत्रिकाएँ:

सदानीरा, कविता की पत्रिका; सम्पादक: आग्नेय; प्रकाशक: पहले पहल प्रकाशन, 25-ए, प्रेस कॉम्प्लेक्स, महाराणा प्रताप नगर, भोपाल (म.प्र.); पृष्ठ : 208; मूल्य: 50/ रुपये।

विश्व मण्डल मासिक समाचार पत्रिका, वर्ष 12 अंक 10 जनवरी 2013; सम्पादक: रवि कुमार विश्नोई; प्रकाशक : 213, वेस्ट एण्ड रोड, मेरठ कैन्ट; पृष्ठ : 62; मूल्य: 10/ रुपये।

कल हमारा है, (मासिक) नव निर्माण के प्रति समर्पित पत्रिका; वर्ष-2 अंक-1, दिसम्बर 2012; सम्पादक: सत्यवीर अग्रवाल; प्रकाशन: 54/3 रामबाग रोड, मुजफ्फरनगर (उ.प्र.); पृष्ठ : 24; मूल्य: 10/ रुपये।

अवध-अर्चना, अंक 3 वर्ष 18, अगस्त-अक्टूबर 2012; सम्पादक: विजय रंजन; प्रकाशक: अवध-अर्चना प्रकाशन, फैजाबाद, 4/14/41ए महताब बाग, अवधपुरी कालोनी फेज-2 फैजाबाद (उ.प्र.); पृष्ठ : 56; मूल्य: 20/ रुपये।

संस्कारम्, सामाजिक मूल्यों की पारिवारिक पत्रिका, वर्ष 6, अंक 2 फरवरी : 2013; सम्पादक: ईश्वर दयाल; प्रकाशन : 7/35 अंसारी मार्ग दरियागंज, नई दिल्ली-110002; पृष्ठ : 50; मूल्य: 20/ रुपये।

*We Strive
to Satisfy
Our Customers*

VASUNDHARA MARKETING CO.

Sales Tax No. LC/13/017261/1080

☎ 3277883 (Off.)

Regd. Office
**1/3575, Netaji Subhash Marg
Darya Ganj, New Delhi-110002**

With Best Compliments

from

VASUNDHARA IMPEX (P) LTD.

Administrative Office
LG-69, World Trade Centre,
Babar Lane, New Delhi-110001

Regd. Office
1/3575, Netaji Subhash Marg,
Darya Ganj, New Delhi-110002
Phone Off. 3277883, 3711848